आत्म शक्ति से
युग शक्ति का उद्भव

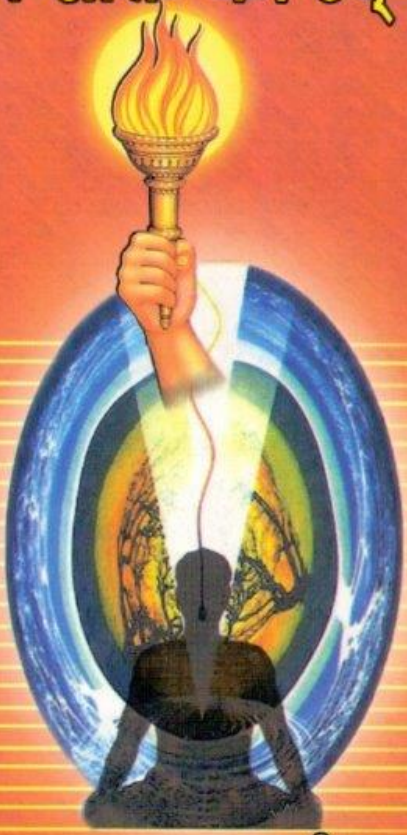

-श्रीराम शर्मा आचार्य

आत्म-शक्ति से युग-शक्ति का उद्भव

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

सन् **२०१०**

मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

वातावरण परिवर्तन का स्थूल स्वरूप आंदोलनपरक होता है। सूक्ष्म वातावरण विचार संघात एवं सद्भावनात्मक प्रयोगों से प्रभावित होता है। विशिष्ट आध्यात्मिक उपचारों की प्रचंड ऊर्जा उत्पन्न करके भी वातावरण बदला जा सकता है। प्रखर प्रतिभाएँ अपनी प्राणशक्ति से युग को बदलती हैं, अवतारी महामानव समय के प्रवाह को उलटते हैं। ठीक इसी प्रकार तप साधना की चेतनात्मक प्रचंड ऊर्जा, सूक्ष्म जगत् को परिष्कृत करके उसे इस योग्य बना सकती है कि उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएँ दैवी अनुग्रह की तरह उभरती, उमड़ती चली आएँ। व्यक्ति विशेष की तपश्चर्या और सामूहिक अध्यात्म साधना के यदि प्रबल प्रयास हो सकें, तो वातावरण बदलने के चमत्कार उत्पन्न हो सकते हैं।

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

उपासना से अंतःकरण एवं वातावरण का परिष्कार संभव

▼

मनुष्य समाज में वांछित परिस्थितियों का निर्माण दो आधारों पर ही संभव है। एक है, मानवीय अंतःकरण तथा दूसरा है, सूक्ष्म वातावरण। स्थूल साधन, सुविधाएँ एवं परिस्थितियों में भी परिवर्तन लाना तो होगा, किंतु वह वस्तुतः उपर्युक्त दोनों तथ्यों पर आधारित है। मूल आधारों में परिवर्तन या तो संभव ही नहीं, यदि हो भी जाये तो टिकाऊ नहीं रह सकता। मनुष्य के अंतःकरण के अनुसार ही उसकी गतिविधियाँ बनती हैं तथा उसी के अनुसार परिणाम उत्पन्न होने लगते हैं।

व्यक्तियों की गतिविधियाँ जब श्रेष्ठता से समन्वित रहती हैं, तो उनके श्रम, समय, मनोयोग एवं साधनों का उपयोग सत्प्रयोजनों में होता है, फलतः सुखद परिस्थितियाँ बढ़ती जाती हैं। निरर्थक कार्यों में लगने से पिछड़ेपन की और अनर्थ कार्यों से अधःपतन की परिस्थितियाँ बनती हैं। जब जन-प्रवाह पतनोन्मुख होता है तो स्वभावतः अभाव, संकट एवं विद्रोह बढ़ते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया का कुचक्र चलता है और बुरे युग के—पाप युग, नरक युग के समस्त लक्षण सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। सत्प्रयत्नों के सत्परिणाम तो स्पष्ट ही हैं। धर्मराज्य, रामराज्य, सतयुग आदि ऐसे ही समय को कहा जाता है। युग कैसा है ? कैसा होगा ? इन प्रश्नों का उत्तर पर्यवेक्षण करके दिया जा सकता है कि लोग क्या कर रहे हैं और क्या करने की तैयारियों में लग रहे हैं ?

कल-कारखानें जब विषैला धुआँ छोड़ते हैं तो वायु मंडल में प्रदूषण भर जाता है। उससे साँस लेने में घुटन अनुभव होती है और स्वास्थ्य बिगड़ता है। मोटरों का धुआँ और शोर वायुमंडल को विषैला करता है और उससे जन स्वास्थ्य को ही नहीं, इमारतों को भी क्षति पहुँचती है। इस तथ्य को सभी जानते हैं। मनुष्यों को भी मोटरों और

कारखानों के समतुल्य समझा जा सकता है। उनके कुविचार और कुकर्म बढ़ने लगें तो वातावरण में भावनात्मक विषाक्तता उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। उसका प्रतिफल व्यापक रूप से दुखद दुर्घटनाओं के रूप में परिलक्षित होता है। यही कलियुग है। चंदन वृक्ष सुगंधित होते हैं, उन्हें छूकर जो पवन चलता है, वह दूर-दूर तक सुबास बिखेरता है। पुष्प वाटिकाएँ भी अपने समीपवर्ती क्षेत्र में सुगंधित और जीवनदायिनी प्राण वायु बिखेरती हैं। सज्जनों को चंदन वृक्ष और पुष्प-पादपों की संज्ञा दी जा सकती है। वे स्वयं तो आंतरिक प्रसन्नता और साथियों की सद्भावना से सुखी संतुष्ट रहते ही हैं, अपनी गरिमा का उपहार सारे वातावरण को प्रदान करते हैं। कीचड़ और कूड़े के ढेर से—सड़े नाले से बदबू उठती है, विषाणु बढ़ते हैं, कुरुचिपूर्ण वातावरण बनता है और बीमारियाँ फैलती हैं। मनुष्यों के व्यक्तित्व यदि सड़े नाले और कूड़े के ढेर जैसे बने रहें तो उनकी विकृतियाँ उन अकेले को ही कष्ट नहीं देंगी, वरन् समूचे वातावरण में अवांछनीय विक्षोभ उत्पन्न करेंगी, यही कलियुग का—पाप युग का स्वरूप है। युगों के भले-बुरे होने में व्यक्तियों का स्तर ही प्रधान कारण होता है। उनका दृष्टिकोण और क्रिया कलाप यदि हेय स्तर का होगा, तो न केवल मनुष्यकृत संकट बढ़ेंगे, वरन् प्रकृति प्रदत्त विपत्तियाँ भी बरसेंगी। अणु विस्फोट की धूलि आकाश में छा जाती है और वह जैसे-जैसे जहाँ-जहाँ जितनी-जितनी मात्रा में नीचे गिरती है, वैसे-वैसे, वहाँ-वहाँ उस विष वर्षा से असंख्य प्रकार से संकट उत्पन्न होते हैं। ठीक इसी प्रकार जन समूह के द्वारा अपनाई गई दुष्प्रवृत्तियाँ अपनी प्रतिक्रिया से समूचे वातावरण में ऐसे ही विषाक्तता उत्पन्न करती हैं, जो सब के लिए सब प्रकार दुःखदायी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न करती चली जाती है।

विषाक्तता से वायुमंडल का दूषित होना पदार्थ विज्ञान के आधार पर स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। अध्यात्म विज्ञान के आधार पर यह जानने में भी कठिनाई न होनी चाहिए कि दुष्प्रवृत्तियों के कारण प्रकृति का सूक्ष्म अंतराल विक्षुब्ध होता है और उसकी प्रतिक्रिया ऐसी व्यापक परिस्थितियों के रूप में बरसती है, जिनसे

संसार को संकटों का सामना करना पड़े। प्रकृति प्रकोप की दुर्घटनाएँ ऐसे ही विक्षुब्ध वातावरण की देन हैं। आवश्यक नहीं कि जहाँ के लोगों की दुष्प्रवृत्तियाँ हों, वहीं बरसें। सूर्य की गर्मी से समुद्र में बादल उत्पन्न होते हैं, आवश्यक नहीं कि वे समुद्र में ही बरसें। वे कहीं भी जाकर बरस सकते हैं। जब सारी धरती और सारा आसमान एक है, तो बादलों को कहीं भी बरसने की छूट रहती है। मनुष्य समुदाय एक समाजसूत्र में बँधा है। वह सामाजिक प्राणी है। उसके कर्तव्य और उत्तरदायित्व अपने आप तक ही सीमित नहीं वरन् व्यापक क्षेत्र में विस्तृत हैं। देश, समाज, धर्म, संस्कृति के प्रति भी उसे बहुत कुछ करना होता है। करना भी चाहिए। व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों की तरह सामाजिक कर्तव्यों का भी उसे पालन करना चाहिए। इसमें संकीर्णता बरतना—सामाजिक उत्तरदायित्वों से हाथ खींचना भी मनुष्य के लिए एक अपराध है। पशु-पक्षियों के लिए भले ही वैसा अनुबंधन न हो।

प्रकृति प्रकोप के रूप में सामूहिक दंड व्यवस्था ही चलती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप, बाढ़, तूफान, महामारी, भूमि कीटक आदि के रूप में कई प्रकार की विकृतियाँ आये दिन दरवाजे पर खड़ी रहने की घटनाएँ पाप-युग में होती हैं। सतयुग के संबंध में लिखा मिलता है कि तब मनुष्य दीर्घजीवी होते थे। बाप के सामने बेटा नहीं मरता था। वृक्ष मन चाहे फल देते थे। भूमि से प्रचुर अन्न उपजता था। गौएँ बहुत घी-दूध देती थीं। वर्षा उपयुक्त समय पर, उपयुक्त मात्रा में होती थी। प्रकृति प्रकोप कभी नहीं होता था। यह प्रकृति की अनुकूलता मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों के साथ जुड़ी हुई है। इकोलॉजी विज्ञान के अनुसार प्रकृति की विचारशीलता, संतुलन व्यवस्था, दूरदर्शिता एवं न्यायप्रियता का क्रमशः अधिकाधिक परिचय मिलता जा रहा है। सामूहिक दुष्प्रवृत्तियों का सामूहिक दंड भी इसी व्यवस्था के अंतर्गत आता है।

व्यक्ति के कर्म का दंड व्यक्ति को मिलना चाहिए। यह व्यवस्था तो चलती ही है, पर सामूहिक उत्तरदायित्वों से बँधा रहने के कारण मनुष्य को सामूहिक दुष्प्रवृत्तियों की रोकथाम करने का भी जिम्मेदार माना है। उसकी उपेक्षा की जाए तो वह भी एक

पाप बनता है। स्वयं अच्छा रहना तो उचित ही है, पर उतना ही आवश्यक यह भी है कि जिस समाज में रहा जा रहा है, उसे परिष्कृत बनाए रहने की जिम्मेदारी निबाहने में भी उतनी ही तत्परता बरती जाए। अपने आप के हित साधन में लगे रहने वाले, दूसरों की उपेक्षा करने वाले स्वार्थी कहलाते हैं और निंदा के पात्र बनते हैं। यद्यपि स्वार्थ साधन कोई प्रत्यक्ष अपराध नहीं है और न उससे किसी मर्यादा का प्रत्यक्षतः उल्लंघन ही होता है। फिर भी व्यक्तिवादी, स्वार्थ परायण व्यक्ति निंदित ठहराये जाते हैं, उसका एक ही कारण है कि मनुष्य के लिए सामाजिक सुव्यवस्था के प्रति भी उतना ही जागरूक रहना आवश्यक माना गया है, जितना कि अपने निर्वाह और सुरक्षा का प्रबंध करना। इसकी उपेक्षा करने वाले—मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते उन अपराधों के लिए भी दंडनीय ठहरते हैं, जो अन्यान्य लोगों द्वारा किये जाते रहे, किंतु उन्हें रोकने के लिए जटायु की तरह, रीछ वानरों की तरह, आगे बढ़कर प्रयत्न नहीं किया गया।

सरकार कई अपराधों के लिए सामूहिक जुर्माना करती है। समीपवर्ती क्षेत्र में अपराध होता रहे और हमसे सीधा संबंध नहीं, यह सोचकर उसे रोका न जाए, तो इस उपेक्षा को भी मानवी कर्तव्य शास्त्र में दंडनीय अपराध माना गया है। सामूहिक जुर्माना ऐसे ही अपराधों में किये जाने की दंड व्यवस्था है। पड़ौस के गाँव में डकैती पड़ती रहे और जिसके पास बंदूक का लाइसेंस है, वह डाकुओं का सामना करने न गया तो उस कायर को अपराधी माना जायेगा और उसकी बंदूक जब्त कर ली जायेगी। सामूहिक प्रकृति प्रकोप भी ऐसे ही सामूहिक दंड विधान के रूप में समूची मनुष्य जाति पर बरसते हैं। आवश्यक नहीं कि जिन्हें कष्ट भुगतना पड़ा है, मात्र उन्हीं का अपराध हो। मुहल्ले में गंदगी के ढेर जमा हों तो जमा करने वाले भी और उसे न रोकने वाले भी उस सड़न से हानि उठावेंगे। पड़ौस का छप्पर जलता रहे और अपने घर शांतिपूर्वक बैठे रहा जाये, तो बढ़ती हुई आग अपने को भी लपेटने लगेगी। मुहल्ले में गुंडा गर्दी बढ़ती रहे तो अनेक

सौम्य प्रकृति के बालक भी उस कुचक्र के शिकार किसी न किसी प्रकार बनकर ही रहेंगे। एक व्यक्ति दुष्ट-कर्म करता है, बदनामी सारे परिवार या गाँव की होती है।

यही बात प्रशंसनीय कार्य करने के संबंध में भी है। सत्कर्म करने वाला अपने वंश, परिवार, क्षेत्र देश, युग सभी को प्रतिष्ठित करता है। यह सामूहिकता का उत्तरदायित्व जिन दिनों ठीक तरह निबाहा जाता है, उन दिनों प्रकृति के अनुग्रह की वर्षा सभी पर होती है और जिन दिनों संकीर्ण स्वार्थपरता का बोलबाला होता है, दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं—वातावरण बिगड़ता है, तो दंड उनको भी भुगतना पड़ता है, जो प्रत्यक्षतः तो निर्दोष दिखाई पड़ते हैं, पर समूचे मानव समाज की दुष्प्रवृत्तियों को रोकने और सत्प्रवृत्तियों में संलग्न होने के प्रयास की जिम्मेदारी न निभाने से अनायास ही अपराधी वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं।

युग परिवर्तन के लिए व्यक्ति और समाज में उत्कृष्टता के तत्त्वों का अधिकाधिक समावेश करने के लिए प्रबल प्रयत्नों का किया जाना आवश्यक है। व्यक्ति को चरित्रनिष्ठ ही नहीं, समाजनिष्ठ भी होना चाहिए। मात्र अपने आपको अच्छा रखना ही पर्याप्त नहीं। अपनापन विस्तृत होना चाहिए और अपने शरीर अवयवों—परिवार सदस्यों की तरह ही समूचे समाज की श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने और बढ़ाने के लिए भी प्रयत्न चलाने चाहिए।

● आस्थाओं का स्पर्श आवश्यक

आस्थाओं की पृष्ठभूमि का वस्तुतः एक अलग धरातल है। उसका निर्माण मस्तिष्कीय संरचना की तुलना में कहीं अधिक जटिल है और कहीं अधिक कठोर है। अंतःकरण की अपनी स्वतंत्र रचना है। उस पर बुद्धि का थोड़ा बहुत ही प्रभाव पड़ता है। सच तो यह है कि अंतःकरण ही बुद्धि की कठपुतली को अपने इशारे से नचाता है। आंतरिक आस्थाओं और आकांक्षाओं की जो अभिरुचि होती है, उसी को पूरा करने के लिए चतुर राजदरबारी की भूमिका मस्तिष्क को निभानी पड़ती है। उसका

अपना अभिमत जो भी हो, उसे करना वही पड़ता है, जो अधिपति का निर्देश है। हो सकता है कि मस्तिष्क वस्तुतः भौतिकता का पक्षधर हो, किंतु उसे व्यवहार में लाते समय वह तब तक समर्थ न हो सकेगा, जब तक अंतःकरण भी अनुकूल न हो जाए। किसी भी नशेबाज से वार्तालाप किया जाए तो वह समझाने वाले से भी अधिक ऐसे तथ्य प्रस्तुत कर देगा, जिससे नशा पीने की हानियों का प्रतिपादन होता है। इतनी जानकारी होते हुए भी वह उस लत को छोड़ने के लिए तत्पर न हो सकेगा। उसका कारण एक ही है कि नशे के पक्ष में उसके अंतःकरण में इतनी गहरी अभिरुचि जम गयी है, जिसे विचारशीलता मात्र के सहारे पलट सकना संभव नहीं हो पाता। शराबी आये दिन अपने को धिक्कारता है—शपथें लेता है, किंतु जब अंदर से लत भड़कती है, तो असहाय की तरह शराब खाने की ओर इस प्रकार घिसटता चला जाता है, मानो कोई बलपूर्वक उसे अपनी पीठ पर लादकर लिये जा रहा हो। रास्ते में संकल्प-विकल्प भी उठते हैं। लौटने को मन भी करता है, पर सारे तर्क एक कोने पर रखे रह जाते हैं। आदत अपनी जगह स्थिर रहती है। उसका दबाव इतना अधिक होता है कि विचारों का कुछ वश नहीं चलता है और अंततः शराब-घर पहुँचने और पीकर ही लौटने की बात बनकर रहती है।

मस्तिष्क की यहाँ निरर्थकता नहीं बताई जा रही है और न तर्क, प्रभाव, अध्ययन का, विचार साधन का, महत्त्व कम किया जा रहा है। उसकी उपयोगिता तो है ही और रहेगी ही। बात इतनी भर है कि मस्तिष्क भौतिक जीवन में अत्यंत पेचीदा समस्याओं को सुलझाने और महत्त्वपूर्ण फैसले करने और पेचीदीगियों को सरल बनाने में अद्भुत सूझ-बूझ का परिचय दे सकने में समर्थ होते हुए भी अंतःकरण में जमे हुए संचित संस्कारों को प्रभावित करने में यत्किंचित ही सहायक हो पाता है। कारण कि वह गहरी परत मस्तिष्क के प्रभाव क्षेत्र में पूरी तरह है नहीं, वरन उल्टे मस्तिष्क को ही अपने इच्छानुकूल चलने के लिए विवश करती है।

अंतकरण ही मानवी सत्ता का केंद्रबिंदु है। यह जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही अद्‌भुत भी। महत्त्वपूर्ण इस अर्थ में कि उसमें तनिक-सा अंतर आते ही मनुष्य का सारा स्वरूप बदल जाता है। अद्‌भुत इस अर्थ में कि भावनाओं-संवेदनाओं की दृष्टि से अति सरल होते हुए भी अपनी स्थिति के संबंध में इतना दुराग्रही है कि बदलने में अत्यंत कठोरता का परिचय देता है। परिवर्तन के लिए किये जाने वाले साधारण प्रयत्नों को तो ऐसे ही उपहास में उड़ा देता है। ईश्वर से मिलने की, सूक्ष्म जगत् से संपर्क साधने की क्षमताएँ इसी मर्म स्थल में सन्निहित हैं। ऋद्धियों और सिद्धियों की समस्त रत्न राशियाँ इसी तिजोरी में भरी हुई हैं। इतने पर भी इसका खोल सकना अत्यंत कठिन है। जानकार लोग भी अपने आपको असहाय पाते हैं। आत्मबोध की आवश्यकता समझने—समझाने वाले—उसके द्वारा मिलने वाले चमत्कारों का स्वरूप समझने वाले भी इतना संकल्प नहीं जुटा पाते कि आत्म जागृति का लाभ उठा सकें—और साक्षात्कार कर सकें। अपनी जानकारी से स्वयं लाभान्वित न हुआ जा सके, तो समझना चाहिए कि कोई बहुत बड़ा कारण या अवरोध काम करता है।

अंतःकरण की स्थिति में थोड़ा-सा परिवर्तन होते ही जीवन के स्वरूप में असाधारण परिवर्तन प्रस्तुत होता है। वाल्मीकि, अजामिल, आम्रपाली, अँगुलिमाल, विल्वमंगल आदि अनेकों के दुष्ट जीवनों ने पलटा खाया और देखते-देखते कायाकल्प कर लिया। बोधि वृक्ष के नीचे एक दिन गौतम राजकुमार के अंतःकरण ने पलटा खाया और वे दूसरे दिन ही भगवान् बुद्ध बन गये। समर्थ गुरु रामदास का विवाह मुहूर्त निकट था, उनके भीतर वाला दुस्साहसपूर्वक दूसरे प्रकार का निश्चय कर बैठा। देखते-देखते सारी दिशा धारा ही उलट गई। गृहस्थों जैसा सामान्य जीवन क्रम दूसरे ही दिन महामानवों की, ऋषियों की पंक्ति में जा विराजा। ऐसे चमत्कार अंतःकरण के परिवर्तन से ही होते रहे हैं।

उत्थान से पतन और पतन से उत्थान के अचानक परिवर्तनों के अगणित प्रमाण—उदाहरण इतिहास के पृष्ठों पर विद्यमान हैं।

आरंभिक परिस्थितियों से अंतिम उपलब्धि तक क्रमिक गति से चलते हुए आकाश-पाताल जितना अंतर उत्पन्न करने वाली घटनाएँ तो अपनी आँखों के सामने ही असंख्यों देखी जा सकती हैं। इनका मूल कारण एक ही है—अंतःक्षेत्र की प्रबल आस्था और प्रचंड आकांक्षा। इतना भर सार तत्त्व जहाँ भी होगा, वहाँ विपरीत स्थितियाँ काई की तरह फटती चली जाएँगी और टिड्डी दल की तरह परामर्शों, सहयोगों और अनुकूलताओं का समूह एकत्रित होता चला जाएगा। पतित, सामान्य और महान् जीवनों के अंतरों में परिस्थिति नहीं, मनःस्थिति ही आधारभूत कारण रही है। जीवन का स्वरूप इसी मर्म स्थल में निर्मित होता है और वहीं पर उगा बीज बड़ा होने पर जीवन के प्रस्तुत स्वरूप की तरह दिखाई पड़ता है।

अंतःकरण के कठोर क्षेत्र को प्रभावित करने के लिए अध्यात्म विज्ञान का तत्त्व दर्शन और साधना उपचार ही प्रभावी सिद्ध होता है। योग साधना और तपश्चर्या का समूचा कलेवर इसी प्रयोजन के लिए विनिर्मित हुआ है। कठोर चट्टानें हीरे की नोंक वाले बरमे के अतिरिक्त और किसी औजार से छेदी नहीं जातीं। अंतःकरण में जमी अवांछनीयता को निरस्त करके उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना के लिए अध्यात्म विज्ञान का ही सहारा लेना पड़ेगा। उसी विद्या में पारंगत इंजीनियर—अध्यात्मवेत्ता इस क्षेत्र की समस्याओं का समाधान कर सकेगा। विकृति विपन्नताओं के स्थान पर परिष्कृत परिस्थितियों की स्थापना यदि सचमुच ही अभीष्ट हो, तो उसका हल अध्यात्म विद्या का अवलंबन लिये बिना और किसी प्रकार निकलेगा नहीं। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा जा सके, उतना ही दिशा निर्धारण और सार्थक श्रम करने में सुविधा रहेगी।

व्यक्ति निर्माण के लिए भौतिक उपायों की सार्थकता तभी है जब अंतःकरण के स्तर में परिवर्तन हो—दृष्टिकोण सुधरे। यह कार्य प्रशिक्षण मात्र से नहीं हो सकेगा। आस्थाओं का स्पर्श आस्थाएँ करती हैं। भावनाओं को भावनाओं से छुआ जाता है। काँटा काँटे से निकलता है; विष, विष से मारा जाता है। आस्था अंतःकरण की अत्यंत गहरी परतों में अपनी जड़ जमाये बैठी

रहती हैं। उन तक पहुँचना और सुधार परिवर्तन करना सामान्य प्रयासों से संभव नहीं, उसके लिए उसी स्तर के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इनमें उपासनात्मक उपचारों के अतिरिक्त अन्य प्रयत्न अभीष्ट परिणाम उत्पन्न नहीं करते।

उपासना की प्रक्रिया को अंतःकरण की वरिष्ठ चिकित्सा समझा जाना चाहिए। कुसंस्कारों की—कषाय कल्मषों की महा व्याधि से छुटकारा पाने के लिए यही रामबाण औषधि है। उच्चस्तरीय श्रद्धा का जागरण और वरिष्ठ निष्ठा का प्रतिपादन भगवद् भक्ति के सहारे ही संभव है। रक्त की शिराओं में दवा का प्रवेश कराने के लिए इंजेक्शन की पोली सुई की जो भूमिका है, वही कार्य उत्कृष्टता को अंतःकरण की गहराई तक पहुँचाने में उपासना करती है।

पिछले दिनों उपासना के नाम पर भोंडा जाल-जंजाल ही जनसाधारण के गले में बाँध दिया गया है। देवताओं को फुसलाकर उचित अनुचित मनोकामनाएँ पूरी कर लेने की आशा से ही ओछी बुद्धि के लोग पूजा पाठ करते पाये जाते हैं। यदि उन्हें उपासना का तत्त्वज्ञान और प्रतिफल ठीक तरह समझने का अवसर मिला होता और आत्म परिष्कार के उद्देश्य से जन साधारण को इस पुण्य प्रयोजन में लगाया गया होता, तो स्थिति दूसरी ही होती। उपासना के माध्यम से आस्थाओं के उत्कर्ष का उद्देश्य ध्यान में रखा गया होता तो व्यक्तित्व निखरते, परिष्कृत होते और प्रखर बनते। तब उपासना करने वाला भिक्षुक की नहीं वरन् दानी की स्थिति में होता। स्वयं पार होता और असंख्यों को अपनी नाव में बिठाकर पार करता। देवताओं के सामने उसे नाक रगड़ने की आवश्यकता न पड़ती वरन् स्वयं अपने आप में देवत्व का उदय—अवतरण देखता, संपर्क क्षेत्र में स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न करता। प्राचीन काल में आत्म विज्ञान का यही स्वरूप था। ऐसी ही प्रखर उपासना का अभ्यास किया जाता था। आज फिर उसी तथ्य पूर्ण उपासना पद्धति से जन-जन को अवगत और अभ्यस्त कराने की आवश्यकता है।

● वातावरण भी बदले

इसी प्रकार वातावरण के परिष्कार की बात भी ध्यान में रखनी होगी। व्यक्ति और परिवार दोनों में से किसी को गौण नहीं माना जा सकता। मुर्गी में से अंडा उत्पन्न हुआ या अंडे में से मुर्गी ? इस प्रश्न का उत्तर क्या दिया जाए ? बीज से पेड़ उपजा या पेड़ ने बीज पैदा किया ? इसका भी कोई सीधा उत्तर नहीं है। नर से मादा की उत्पत्ति या मादा से नर की ? इसका भी कोई सीधा समाधान नहीं हो सकता। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का युग्म एक-दूसरे के साथ इस कदर गुथा हुआ है कि दोनों को एक दूसरे का पूरक मानकर ही चलना पड़ता है। किसी को प्रमुख, किसी के गौण कहने से व्यर्थ ही वितंडा बढ़ेगा। कौन प्रथम, कौन द्वितीय के झंझट में न पड़कर, हमें इतना ही मान लेना चाहिए कि गाड़ी के दो पहियों की तरह एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अकेले दोनों ही अपूर्ण हैं। परस्पर संयुक्त होकर एक इकाई बनते हैं। पानी भी तो गैसों का सम्मिश्रण ही है। वे दोनों न मिलें तो पानी की उत्पत्ति ही न हो सकेगी।

वातावरण व्यक्ति को प्रभावित करता है या व्यक्ति से वातावरण बनता है। यह प्रश्न भी लगभग इसी प्रकार का है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों से दोनों ही प्रभावित होते हैं। एक के निर्माण में दूसरे का इतना योगदान है कि दोनों को अन्योन्याश्रित ही कह सकते हैं। भले और बुरे व्यक्तियों के बाहुल्य से प्रशंसनीय और निंदनीय युग-वातावरण बनता है, यह सत्य है, किंतु यह भी मिथ्या नहीं कि वातावरण के प्रवाह में अधिकांश व्यक्ति जल-धारा में पड़े हुए तिनके की तरह बहते चले जाते हैं। मनस्वी प्रतिभाओं ने युग को बदला और पलटा है, यह सही है; पर यह भी मिथ्या नहीं है कि वातावरण के सांचे में व्यक्तियों का समूह खिलौने की तरह ढलता चला जाता है। अनेक देशों, क्षेत्रों की—परिस्थितियाँ, प्रथाएँ, मान्यताएँ, रुचियाँ और संस्कृतियाँ भिन्न हैं। उनमें जो बालक उत्पन्न होते हैं, वे वातावरण के प्रभाव से उसी प्रकार की मनोवृत्ति और प्रकृति अपनाते चले जाते हैं। उनके चिंतन, स्वभाव और क्रिया

कलाप लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि उस प्रदेश में रहने वाले लोगों के। बहुमत का दबाव पड़ता है। अल्प मत अनायास ही बहुतों का अनुकरण करने लगता है। समय का प्रभाव—युग का प्रवाह इसी को कहते हैं। सर्दी-गर्मी का मौसम बदलने पर प्राणियों के, वनस्पतियों के तथा पदार्थों के रंग-ढंग ही बदल जाते हैं। गतिविधियों में ऋतु के अनुकूल बहुत कुछ परिवर्तन होते हैं।

विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि पृथ्वी पर जो कुछ विद्यमान है और उत्पन्न उपलब्ध होता है, वह सब अनायास ही नहीं है और न उन सबको मानवी उपार्जन कह सकते हैं। यहाँ ऐसा बहुत कुछ होता रहता है, जिसमें मनुष्य का नहीं वरन् सूक्ष्म शक्तियों का हाथ होता है। सूर्य पर दीखने वाले धब्बे उसकी स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। उस परिवर्तन का पृथ्वी पर भारी असर पड़ता है। उनसे पदार्थों की स्थिति और प्राणियों की परिस्थिति में आश्चर्यजनक हेर-फेर होते हैं। चुंबकीय विकिरण, तूफान, अंधड़, चक्रवात किस प्रकार सामान्य परिस्थितियों को असामान्य बनाते हैं, यह सभी जानते हैं। अंतरिक्षीय अदृश्य शक्ति वर्षा से कई बार धरती पर हिम-युग आये हैं, जलप्लावन, समुद्री परिवर्तन और खंड प्रलय के दृश्य उपस्थित हुए हैं। भविष्य में पृथ्वी के पदार्थों अथवा प्राणियों की स्थिति में कोई असाधारण परिवर्तन हुआ तो उसका निमित्त कारण सामान्य घटना क्रमों में नहीं वरन् अंतरिक्षीय अदृश्य हलचलों में ही पाया जायेगा। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शीत आधिक्य, महामारी आदि आधिदैविक विपत्तियों में मनुष्य अपने आपको निर्दोष एवं असहाय ही अनुभव करता है।

व्यक्ति अपने निजी जीवन में सर्वथा स्वतंत्र और सशक्त है। इतना होते हुए भी विशाल ब्रह्मांड में गतिशील हलचलों और परिस्थितियों में उसका स्थान नगण्य है। सिर पर खड़े पानी से लदे बादल तक को वह बरसा नहीं सकता, मौत और बुढ़ापे को रोकने तक में असमर्थ है। परिस्थितियों पर उसका अधिकार नगण्य है। प्रवाहों में वह अपना यत्किंचित बचाव ही कर पाता है।

सर्दी उसके बूते रुकती नहीं, कपड़े लादकर, आग ताप कर आत्म रक्षा भर में आंशिक सफलता पा लेता है।

स्पष्ट है कि वातावरण से मनुष्य प्रभावित होता है। अलग-अलग देशों के निवासी अपनी-अपनी परंपराओं से प्रभावित होते हैं। प्रचलित ढर्रे के अंतर्गत सोचते और जीवनयापन करते हैं। उसमें उनकी भौतिक प्रतिभा का नहीं, वातावरण का प्रभाव ही प्रधान रूप से काम करता है।

यहाँ एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि, क्या मनुष्य वातावरण के सामने सर्वथा असहाय, असमर्थ है ! उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि, सूक्ष्म प्रवाहों को प्रभावित करने—बदलने और अनुकूल करने की क्षमता मानवी चेतना में विद्यमान है। जीव, ईश्वर का अंश है। मानवी चेतना, ब्रह्मांडव्यापी चेतना का एक भाग है। अंश में अंशी की सारी विशेषताएँ मूल रूप से विद्यमान रहती हैं और प्रयत्नपूर्वक वे मूल सत्ता के समान स्तर तक विकसित हो सकती हैं। बीज तुच्छ है, किंतु वह जिस पेड़ का अंश है, उसी स्तर तक विकसित होने की संभावनाएँ उसमें पूरी तरह विद्यमान हैं। बीज को अवसर मिले तो वह अपने मूल सत्ता वृक्ष के समान फिर विकसित हो सकता है। जीवात्मा की प्रखरता बढ़ती रहे तो उसकी विकास प्रक्रिया उसे महात्मा, व्यापकात्मा एवं परमात्मा बनने की स्थिति तक पहुँचा सकती है।

जड़ प्रकृति का वैभव-विस्तार बहुत है। फिर भी उस पर नियंत्रण चेतना का ही है। शरीर का अस्तित्व एवं क्रियाकलाप तभी तक है, जब तक कि उसमें प्राण की सत्ता काम करती है। यह दृश्य संसार ब्राह्मी चेतना का कलेवर है। प्रकृति ब्रह्म की छाया मात्र है। ब्रह्म जगत् ही वास्तविक जगत् है। प्रकृति-जगत् की जड़ता पर चेतना की ब्रह्म सत्ता का ही नियंत्रण है। विकसित जीवात्मा ब्रह्म जगत् से अपने आपको संबद्ध ही नहीं करते वरन् उसके साथ एकाकार होकर इतने सक्षम भी बन जाते हैं कि प्रकृति प्रवाह में आवश्यक हेर-फेर कर सकें। वातावरण की प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल सकें। योगी और तपस्वी

क्रमशः उसी स्थिति की ओर बढ़ने के लिए तप साधना का पुरुषार्थ करते हैं।

चेतना के संघात से वातावरण में वांछित परिवर्तन किये जाने संभव हैं। अदृश्य जगत् में कई बार ऐसी प्रेरणाएँ उभरती हैं, जिनके आँधी तूफानों में मनुष्यों के मस्तिष्क पत्तों और तिनकों की तरह उड़ने लगते हैं। युद्धोन्माद ऐसे ही उभरते हैं। उन दिनों अधिकांश लोग लड़ने की आवश्यकता अनुभव करते और उसके लिए उतारू से दिखते हैं। एक अजीब-सा आवेश छाया रहता है। कहने की आवश्यकता पड़ती है, न समझाने की। हवा में तेजी और गर्मी ही कुछ ऐसी होती है, जिसके कारण सामान्य मस्तिष्क एक प्रकार से सम्मोहक स्थिति में रहता और प्रवाह में बहता दिखाई पड़ता है। बड़े युद्धोन्माद एवं स्थानीय दंगे-फसादों में वातावरण किस प्रकार उत्तेजित आतंकित होता है; उसे जन-मनोवृत्तिशास्त्र के अध्येता भली प्रकार जानते हैं। युद्धोन्माद की तरह ही समय-समय पर दूसरे सूक्ष्म प्रवाह भी अपने-अपने समय पर उभरते रहे हैं और असख्य मस्तिष्कों को अपने साथ बहा ले जाने में आँधी-तूफान का काम करते रहे हैं।

प्रजातंत्र की लहर एक समय चली और उसने राजतंत्र को संसार भर से उखाड़ फेंकने और उसके स्थान पर जनवादी सरकार बनाने का चमत्कार ही उत्पन्न कर दिया। एक लहर साम्यवाद की उठी। उसने रूस के नेतृत्व में से एशिया और योरोप के अनेक देशों को देखते-देखते अपना अनुचर बना लिया। इन दिनों संसार भर के मनुष्यों में से प्रायः आधे लोग साम्यवादी विचारधारा के पक्ष में सोचते और उसको पूरा या अधूरा समर्थन देते हैं। इन प्रजातंत्र और साम्यवाद के विचार प्रवाह को अपने युग की प्रचंड लहरों में गिन सकते हैं। अनुपयोगी लहरों में से अधिनायकवाद, जातिवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, सामंत वाद आदि भी समय-समय पर अपना सिर उठाते और विग्रह उत्पन्न करते रहे हैं। लहर, लहर ही है। ज्वार भाटा की भयंकरता समुद्र तट वासी समय-समय पर देखते रहते हैं। कई तरह के विचार प्रवाह

भी कई बार ऐसे आते हैं, जो अपने साथ असंख्यों को समेटते-घसीटते कहीं उठाकर उड़ा कर ले जाते हैं।

भगवान् बुद्ध का धर्मचक्र-प्रवर्तन साधन प्रधान नहीं, प्रवाह प्रधान था। साधनों से प्रवाह उत्पन्न नहीं किया जा सकता था। प्रवाह ने साधन खड़े कर दिये थे। हर्षवर्धन, अशोक आदि राजाओं ने मिलकर बुद्ध को धर्म प्रचारक नियुक्त नहीं किया था। बुद्ध ने ही हवा गरम की थी और उसकी गर्मी से लाखों सुविज्ञ, सुयोग्य और सुसंपन्न व्यक्ति अपनी आत्माहुति देते हुए चीवरधारी धर्म सैनिकों की पंक्ति में अनायास ही आ खड़े हुए थे। धर्म प्रवर्तकों में से प्रत्येक ने अपने-अपने समय में अपने-अपने ढंग से वातावरण को गरम करके अपने समर्थन की भाव तरंगें उत्पन्न की हैं और उस प्रवाह में असंख्य व्यक्ति बहते चले गये हैं। पराधीनता-पाश से मुक्त होने वाले देशों में भी आजादी की लहर बही और उसके कारण अनगढ़ ढंग से आंदोलन फूटे तथा अपने लक्ष्य पर पहुँचकर रहे। अदृश्य और सूक्ष्म वातावरण के तथ्य तथा रहस्य को जो लोग जानते हैं, वे समझते हैं कि इस प्रकार के प्रवाह कितने सामर्थ्यवान् होते हैं। उनकी तूफानी शक्ति की तुलना संसार की और किसी शक्ति से नहीं हो सकती। रामायण काल के वानरों द्वारा जान हथेली पर रख कर जलती आग में कूद पड़ना, जिस प्रवाह की प्रेरणा से संभव हुआ, उसका स्वरूप और महत्त्व यदि समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि जन समुदाय को किसी दिशा विशेष में घसीट ले जाने की सामर्थ्य सूक्ष्म वातावरण में भी इतनी है, जिसे साधनों के सहारे खड़े किये गये आंदोलनों से कम नहीं, अधिक शक्तिवान् ही माना जा सकता है।

युग निर्माण योजना का एक पक्ष आंदोलनपरक है, जो एक शब्द में विचार क्रांति अभियान का वह स्वरूप है—जिसकी रूपरेखा, जानकारी और प्रेरणा सर्व साधारण को बहुत समय से दी जाती रही है। जिसके लिए अपने परिवार द्वारा सामर्थ्य भर प्रयत्न किया जाता रहता है। दूसरा पक्ष प्रस्तुत प्रयोजन के लिए सूक्ष्म वातावरण में आवश्यक गर्मी और तेजी उत्पन्न करना है। जन समर्थन और जन

सहयोग के लिए प्रचार साधनों पर उतना निर्भर नहीं रहा जा सकता जितना कि वातावरण के अनुकूलन पर। सूक्ष्म जगत् का प्रवाह यदि सहयोगी बन रहा हो, तो अभीष्ट प्रयोजन में सफलता प्राप्त करने की संभावना कहीं अधिक बढ़ जाती है। हवा का रुख पीठ पीछे से हो तो जलयानों वायुयानों से लेकर पैदल यात्रा तक में कितनी सुविधा होती है और मार्ग कितनी जल्दी, कितनी सरलता से पूरा हो जाता है ? वातावरण में विषाक्तता छा जाती है तो भयंकर महामारियों का प्रकोप होता है और देखते-देखते असंख्यों उससे अक्रांत होते मरते देखे जाते हैं। वातावरण में सर्दी-गर्मी होने से प्राणियों को काँपते-हाँफते देखा जाता है। घर में शोक का वातावरण हो तो असंबद्ध लोग भी उससे प्रभावित होते हैं। मंदिरों और कसाईघरों के वातावरण का अंतर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। अध्यात्म विद्या में सूक्ष्म जगत् का, सूक्ष्म वातावरण का महत्त्व इस संसार के समस्त साधनों में सर्वोपरि माना गया है। युग परिवर्तन के लिए हमें वातावरण के अनुकूलन के लिए अध्यात्म विज्ञान के अनुरूप प्रचंड प्रयास करने होंगे। इतना बड़ा कार्य उसी दिव्य शक्ति के माध्यम से संपन्न हो सकेगा।

विशिष्ट आध्यात्मिक उपचारों की प्रचंड ऊर्जा उत्पन्न करके भी वातावरण बदला जा सकता है। प्रखर प्रतिभाएँ अपनी प्राण शक्ति से युग को बदलती हैं। अवतारी महामानव समय के प्रवाह को उलटते हैं। ठीक इसी प्रकार तप साधना की चेतनात्मक प्रचंड ऊर्जा सूक्ष्म जगत् को परिष्कृत करके उसे इस योग्य बना सकती है कि सुख शांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगें और उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएँ दैवी अनुग्रह की तरह उमड़ती उमरती चली आएँ। व्यक्ति विशेष की तपश्चर्या और सामूहिक अध्यात्म साधना के यदि प्रबल प्रयास हो सकें तो वातावरण बदलने के चमत्कार उत्पन्न हो सकते हैं।

सूक्ष्म वातावरण का परिशोधन करने के लिए अध्यात्म विज्ञानियों द्वारा कतिपय दिव्य उपचार समय-समय पर किये गये हैं। इसके प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं। रावण काल के विक्षुब्ध वातावरण

को समाहित करने का कार्य लंका विजय के उपरांत भी शेष रह गया था। भगवान् राम ने दशाश्वमेघ घाट पर दस अश्वमेधों की संकल्प श्रृंखला पूरी की थी। कंस, दुर्योधन, जरासंध जैसे असुरों के न रहने पर भी महाभारत काल के विक्षोभ वातावरण में भरे रहे। भगवान् कृष्ण ने उनका समाधान आवश्यक समझा और पांडवों से राजसूय यज्ञ कराया। महर्षि विश्वामित्र अपने समय की असुरता को दुर्बल बनाने के लिए जो वृहद् यज्ञ रच रहे थे, उसका पता असुरों को चल गया और वें ताड़का, सुबाहु, मारीच के नेतृत्व में उसे नष्ट करने के लिए आक्रमण करने लगे। राम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा के लिए जाना पड़ा था। ऐसे समाधान उपचारों में यज्ञ प्रक्रिया का बहुत महत्त्व रहा है। यज्ञों में अग्निहोत्र की तरह ही जप यज्ञ भी है। अग्निहोत्र में साधन चाहिए, पर जप यज्ञ व्यक्तिगत साधना से भी संपन्न हो सकता है। यज्ञ तो सामूहिक होते ही हैं। उससे होताओं की सम्मिलित साधना का चमत्कार देखने को मिलता है। जप यज्ञ को जब अनेक जपकर्त्ता संकल्पपूर्वक समाहित होकर करते हैं, तो उससे भी सम्मिलित शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी सामूहिक साधनाएँ पुरश्चरण कहलाती हैं। तपश्चर्या युक्त सामूहिक संकल्पों के द्वारा विशिष्ट उद्देश्य के लिए किये गये पुरश्चरण भी वातावरण में अभीष्ट अनुकूलता उत्पन्न करते हैं।

वैयक्तिक विशिष्ट तपश्चर्याएँ अपनाकर आत्म विकास और व्यापक परिस्थितियों में उपयोगी परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं। हिमालय पर अभी भी ऐसी दिव्य आत्माएँ विशिष्ट तप-साधना में संलग्न हैं और समय-समय पर अपनी आत्मिक क्षमता से वातावरण के अनुकूलन का यथा संभव प्रयत्न करती हैं। हम समझ भले ही न पावें, पर उसका उपयोगी लाभ मिलता है। यदि ऐसा न होता तो वातावरण की विकृति बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति पर पहुँच गयी होती कि महाविनाश के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी दिखाई न देता। श्रेष्ठता का जो प्रकाश इन दिनों दिखाई देता है, वह आसुरी आक्रमणों से कब का विलुप्त हो गया होता ? विविध साधकों को उनकी सामर्थ्य के अनुरूप अतिरिक्त रूप से भागीरथ

तप साधन के संकल्प सौंपे गये हैं। शांतिकुंज ब्रह्मवर्चस् आरण्यक का हिमालय और गंगा के संगम पर बना विशिष्ट संस्थान तो ऐसे ही व्यापक तप-साधना के सूत्र संचालन का केंद्र बिंदु है, जहाँ से असंख्यों तपस्वी प्रकाश, प्रोत्साहन, मार्ग दर्शन एवं सहयोग प्राप्त करेंगे। इस व्यापक तप साधना को रावण काल में ऋषियों के रक्त घट एकत्रित करके सीता की असुर निकंदनी शक्ति के समतुल्य समझा जा सकता है। देवताओं की संयुक्त शक्ति से संपन्न हुए दुर्गावतरण की इसे पुनरावृत्ति कह सकते हैं। भागीरथ, ध्रुव, च्यवन और प्रहलाद की परंपरा को पुनर्जीवित करने का इसे आधुनिक प्रयत्न कह सकते हैं।

सामूहिक उपासना की शक्ति भी असामान्य है। वैयक्तिक-एकाकी प्रयत्नों की अपेक्षा सम्मिलित प्रयत्नों का प्रतिफल कितना चमत्कारी होता है, इसका परिचय हर किसी को है। संसार में समस्त प्रगति प्रयास मिल-जुलकर किये जाने वाले परिश्रम के फलस्वरूप ही सफल हो पा रहे हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही लक्ष्य पूरी तरह काम करता है। एक समय पर, एक विधि से, एक लक्ष्य के लिए, एक जैसी मनःस्थिति के व्यक्ति, यदि मिल-जुलकर किसी विशिष्ट उपासना में संलग्न हों तो उस प्रयास के आकार-विस्तार के अनुपात में ऐसे प्रभाव परिणाम उत्पन्न होते हैं, जो वातावरण के अनुकूलन में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकें।

इस प्रकार के अनेक सफल प्रयोग विशाल स्तर पर युग निर्माण योजना के अंतर्गत किये जा चुके हैं। जन मानस के परिष्कार के लिए जहाँ विचार क्रांति अभियान एवं रचनात्मक सत-प्रवृत्तियों के संवर्धन के प्रयास किये जाते रहे हैं, वहाँ सामूहिक साधना-उपासना का क्रम भी चलता रहा है। सामान्य रूप से चलने वाली उपासनात्मक प्रक्रिया भी कम प्रभावकारी नहीं हैं, उसे भी प्रत्यक्ष अनुभव किया जा रहा है। फिर जब-जब, समय-समय पर विशेष उपासना अभियान चलाए गये हैं, तब-तब, उनका जादू सिर चढ़कर बोलने लगा हो, तो कोई आश्चर्य की

बात नहीं। उनमें से कुछ प्रसंग, जिनका प्रभाव पुराने संपर्क के परिजन भली प्रकार देख चुके हैं, इस प्रकार है—

रूढ़िवादी-प्रतिगामी मान्यताओं के बीच गायत्री साधना एवं यज्ञ प्रक्रिया को जन सुलभ बनाने के लिए किया गया ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान एवं २४०० करोड़ मंत्र लेखन की साधना। विदेशी आक्रमणों के समय तथा बंगला देश गृह युद्ध और स्काइलैब गिरने के अवसर पर जन मनोबल जागरण के महापुरश्चरण। साधना स्वर्ण जयंती के संदर्भ में हुए २४०० करोड़ गायत्री जप तथा प्रतिदिन २४० करोड़ गायत्री जप युग संधि महापुरश्चरण का महाअनुष्ठान। उन सभी के प्रत्यक्ष प्रभाव मिशन से संबद्ध व्यक्ति भली प्रकार देख चुके हैं। अस्तु नवयुग अवतरण के लिए सामूहिक उपासना प्रक्रिया को गतिशील बनाना हर प्रकार उचित एवं आवश्यक है।

युग निर्माण परिवार के संगठन इस दिशा में प्रयासरत रहते हैं—फलस्वरूप उसके परिणाम भी उत्साह-जनक रूप से सामने आ रहे हैं। उपासना का व्यवस्थित क्रम हर जगह सदस्य चालू रखते ही हैं। प्रति सप्ताह, प्रति माह एवं पर्वों पर सामूहिक उपासना का क्रम विशेष रूप से चलाया जाता है। यह क्रम कितना लोकप्रिय हो गया है, इसका अनुमान इसी से लग जाता है कि केवल सन् १९७७ आश्विन की नवरात्रि में ही २४० करोड़ गायत्री जाप का पूरा लक्ष्य पूरा कर लिया गया। जन साधारण को इस दिशा में और अधिक प्रोत्साहन देकर दिव्य चेतना का वह प्रखर प्रवाह पैदा किया जा सकता है, जिसके द्वारा नवयुग का अवतरण संभव हो सके।

● उपासना का महत्त्व और दर्शन

मानवी सत्ता के दो पक्ष हैं—एक भौतिक, दूसरा आत्मिक। भौतिक पक्ष में शरीर और उसकी विभिन्न आवश्यकताएँ जुटाने वाला परिवार आता है। इसकी निर्वाह व्यवस्था के लिए सुविधा-साधनों का उपार्जन करना पड़ता है। इस संदर्भ में अनेकों से संपर्क हो सकता है। यह संपर्क सरलतापूर्वक चलता रहे, टकरावों

का समाधान निकलता रहे, इस उद्देश्य के लिए बनी व्यवस्थाएँ सामाजिक मर्यादाएँ कहलाती हैं। इनका पालन किये बिना सहयोग-संबंध टिक नहीं सकते। असहयोग के वातावरण में उपार्जन-व्यवहार कठिन हो जाता है, उपार्जन न हो तो परिवार का निर्वाह कैसे बने ? परिवार न हो तो शरीर यात्रा की सरलता कैसे रहे ? इसी ताने बाने को बुनने में, उलझनों को सुलझाने में, सुविधा-संवर्धन का सरंजाम जुटाने में लगने वाले प्रयासों को भौतिक जीवन कहा जाता है। जीवन में शरीर पक्ष का अपना महत्त्व है। शरीर रखना है, तो उसके साथ जुड़ी भौतिक आवश्यकताएँ भी किसी न किसी रीति से जुटानी पड़ती हैं। शरीर की संरचना पंच तत्त्वों से हुई है। इसलिए उसका निर्वाह भौतिक पदार्थों से, अन्य प्राणियों के शरीर सहयोग से ही संभव होता है। इस क्षेत्र की समस्याओं को समझना और आवश्यकताओं को जुटाना आवश्यक है। इस आवश्यकता को सभी समझते हैं और उसकी पूर्ति के लिए अहर्निश प्रयत्न भी करते हैं।

जीवन का दूसरा पक्ष है—आत्मिक। जीव चेतना का अपना अस्तित्व है। शरीर उसका वाहन, उपकरण, निवास गृह है। मनुष्य आत्मा है। उसे यह जीवन आत्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ईश्वर के विशेष अनुग्रह के रूप में मिला है। विशेष अनुग्रह इसलिए कि सृष्टि के अन्य किसी प्राणी को वे सुविधाएँ नहीं मिली हैं, जो मनुष्य को प्राप्त हैं। मोटी दृष्टि से देखने में इसमें पक्षपात और अन्याय प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ता है। जब सभी प्राणी ईश्वर के पुत्र हैं, तो सभी को एक जैसी सुविधाएँ मिलनी चाहिए थी। फिर अन्य जीवों को शरीर यात्रा भर की सुविधा देकर पीछा छुड़ा लिया गया और मनुष्य को इतनी सुविधाओं से लाद दिया गया, जिन्हें इन प्राणियों की दृष्टि से वैसी ही ठहराया जा सकता है जैसी कि हम स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की विभूतियों के संबंध में कल्पना करते हैं। निश्चय ही मनुष्य जीवन का दिव्य अनुदान ईश्वर ने विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विशुद्ध धरोहर के रूप में प्रदान किया है।

मनुष्य जीवन के दो लक्ष्य हैं—(१) संग्रहीत कुसंस्कारों और कषाय-कल्मषों से छुटकारा पाना और परिष्कृत दृष्टिकोण अपना कर विश्व उद्यान का परिपूर्ण आनंद उपलब्ध करना। परिष्कृत जीवन के साथ जुड़ी हुई आनंद भरी उपलब्धियाँ स्वर्ग कहलाती हैं और दुर्बुदि से दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने को मुक्ति कहते हैं। जीवन का एक लक्ष्य यह है।

(२) दूसरा है—भगवान् के विश्व उद्यान को अधिक सुरम्य, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने में संलग्न होकर अपनी गरिमा को विकसित करना। मनुष्य को ईश्वर का राजकुमार उत्तराधिकारी एवं पार्षद कहा गया है और उसके कंधों पर यह उत्तरदायित्व डाला गया है कि स्रष्टा के विश्व उद्यान का सौंदर्य बढ़ाने में हाथ बटाएँ और सच्चे मित्र-भक्त की भूमिका संपन्न करें।

इन दोनों प्रयोजनों को जो जितनी मात्रा में पूरा करता है, वह उतना ही बड़ा ईश्वर भक्त कहलाता है। उस मार्ग पर चलने वाले महामानव, संत, ब्राह्मण, ऋषि, देवात्मा, अवतारी आदि नामों से पुकारे जाते हैं। उन्हें असीम आत्म संतोष प्राप्त होता है और लोक सम्मान एवं सहयोग की वर्षा होने से, उन्हें अपने उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति में असाधारण सफलता भी मिलती है। उनके क्रिया कृत्य ऐतिहासिक होते हैं और उनके प्रभाव से असंख्यों को ऊँचा उठने का आगे बढ़ने का असाधारण सहयोग मिलता है। धन संपत्ति कमाना जब लक्ष्य ही नहीं, वैयक्तिक तृष्णाओं से जब उपराम ही पा लिया गया तो फिर उनका संचय न होना स्वाभाविक ही है। वैभव की दृष्टि से संपन्न होने की जब वे इच्छा ही नहीं करते तो फिर धनवान वे बनेंगे भी कैसे ? इतने पर भी उनकी आंतरिक संपन्नता इतनी बढ़ी चढ़ी होती है कि अपनी नाव पार लगाने के साथ असंख्यों को उस पर बिठाकर पार लगा सकें। ईश्वर का असीम अनुग्रह और अनुदान ऐसे ही लोगों के लिए सुरक्षित रहा है। लोक और परलोक का बनाना इसी को कहते हैं। मनुष्य जीवन इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए मिला है। जो इसके लिए प्रयत्न करते हैं, उन्हीं का नरजन्म धारण धन्य एवं सार्थक बनता है, वे ही इस सुर दुर्लभ उपलब्धि का

रसास्वादन करते हुए कृतकृत्य होते हैं। जो इस मार्ग पर जितना बढ़ सका, समझना चाहिए कि उसने उतनी ही मात्रा में लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता पा ली।

● हम बुद्धिमान् सिद्ध हों

बुद्धिमत्ता इस बात में थी कि आत्मा और शरीर दोनों की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता। श्रम और बुद्धि की जो सामर्थ्य प्राप्त है, उनका उपयोग दोनों क्षेत्रों के लिए इस प्रकार किया जाता कि शरीर की सुरक्षा बनी रहती और आत्मा अपने महान् लक्ष्य को प्राप्त कर सकने में सफल हो जाती, किंतु होता विचित्र है। जो बुद्धि आये दिन अनेक समस्याओं के सुलझाने में संपदाओं और उपलब्धियों के उपार्जन में पग-पग पर चमत्कार दिखाती है, वह मौलिक नीति निर्धारण में भारी चूक करती है। सारे का सारा कौशल शारीरिक सुख-सुविधाओं के संचय-संवर्धन में लग जाता है। यहाँ तक कि अपने आपको पूरी तरह शरीर ही मान लिया जाता है। आत्मा के अस्तित्व एवं लक्ष्य का ध्यान ही नहीं रहता है, आत्म कल्याण के लिए कुछ सोचते करते बन ही नहीं पड़ता। बुद्धि का यह एकपक्षीय असंतुलन ही जीवात्मा का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। उसी से छुटकारा पाने के लिए ब्रह्म-ज्ञान, आत्म-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान के विशालकाय कलेवर की संरचना की गयी है। बुद्धि को आत्मा का स्वरूप और लक्ष्य समझने का अवसर देना ही उपासना का मूलभूत उद्देश्य है। चौबीसों घंटे मात्र शरीर के लिए ही शत-प्रतिशत दौड़ धूप करने वाली भौतिकता में पूरी तरह रंगी हुई और लगी हुई बुद्धि को कुछ समय उस भगदड़ से विश्राम देकर आत्मा की स्थिति और आवश्यकता समझने के लिए सहमत किया जाता है। उस अति महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा न करने, उस संदर्भ में भी कुछ करने के लिए बुद्धि पर दबाव दिया जाना उपासना का तात्त्विक उद्देश्य है। मन को तदनुसार कल्पनाएँ और बुद्धि को तदविषयक धारणाएँ करने के लिए उपासना पद्धति के आधार पर प्रशिक्षित किया जाता है। वह

एक बहुत बड़ा काम है। सांसारिक जीवन के सबसे बड़े और सबसे महत्त्वपूर्ण कार्मों में से यह एक है। मोटी समझ से तो उसकी तात्कालिक उपयोगिता प्रतीत नहीं होती और कोई आकर्षण न होने से मन भी नहीं लगता, पर विवेक दृष्टि से देखने पर, जब उस कार्य की महत्ता समझ आ जाती है, तब प्रतीत होता है कि यह इतना लाभदायक, उत्पादक, आकर्षक और महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसकी तुलना संसार के अन्य किसी कार्य से हो नहीं सकती।

शरीर को सुख साधन मिलते रहे, उसे पद और यश का लाभ मिला सो सही, पर शरीर ही तो सब कुछ नहीं है। आत्मा तो उससे भिन्न है। आत्मा की उपेक्षित स्थिति में पड़े रहने की दयनीय स्थिति ही बनी रही, तो यह तो ऐसा ही हुआ जैसा मालिक को भूखा रखकर मोटर की साज सज्जा में ही सारा समय, धन और मनोयोग लगा दिया जाए। इस भूल का दुष्परिणाम आज तो पता नहीं चलता, पर तब समझ में आता है जब जीवन संपदा छिन जाती है। भगवान् के दरबार में उपस्थित होकर यह जवाब देना पड़ता है कि इस सुर दुर्लभ उपहार को जिन दो प्रयोजनों के लिए दिया गया, वे पूरे किये गये या नहीं। यदि नहीं तो इसका दंड एक ही हो सकता है कि फिर भविष्य में वह उत्तरदायित्व पूर्ण अवसर न दिया जाए और पहले की ही तरह तुच्छ योनियों के लंबे चक्र में भटकने दिया जाए। मनुष्यों में से अनेकों को इसी लंबी दुर्गति में फँसना पड़ता है और अपनी भूल पर पश्चात्ताप करना पड़ता है कि, जब अवसर था तब हम गहरी नींद में पड़े रहे—इंद्रियों की वासना और मन की तृष्णा के नशे में इस कदर खोये रहे कि लोभ और मोह के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही नहीं पड़ा। यदि समय रहते आँख खुली होती तो कृमि-कीटकों का सा पेट और प्रजनन के लिए समर्पित जीवन जीने की भूल न की गयी होती है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी जीवन का एक पक्ष है और उसकी भी कुछ आवश्यकताएँ हैं, जिस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए जो समय निकाला जाता है—प्रयत्न किया जाता है, उसी को उपासना प्रक्रिया कहते हैं। आत्मा का स्वार्थ ही वास्तविक

स्वार्थ है। उसी को परमार्थ कहते हैं। परमार्थ का चिंतन—उसके लिए बुद्धि का उद्बोधन, प्रशिक्षण जिन क्षणों में किया जाता है, वस्तुतः वे ही सौभाग्य भरे और सराहनीय क्षण हैं। यदि इस दृष्टि का उदय हो सके तो उपासना को नित्य कर्मों से सबसे अधिक आवश्यक-अनिवार्य स्तर का कार्य माना जायेगा। वास्तविक स्वार्थ साधना के क्षण वही तो होते हैं।

भौतिक जगत् में शरीर के लिए आवश्यक सुविधा-साधना भरे पड़े हैं, उन्हें उपलब्ध कराने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार एक चेतन जगत् भी है। उसमें भरी हुई संपदा आत्मिक आवश्यकताओं को पूरा करती है। शरीर पंच तत्त्वों का बना है, उसकी आवश्यकता भौतिक पदार्थों की होती है। संबंधियों के शरीर भी भौतिक हैं। पदार्थों की तरह प्राणियों के शरीर भी जड़ तत्त्वों से ही बने हैं। जड़ का काम जड़ से चलता है, किंतु चेतना की आवश्यकता पूरी करने वाली वस्तु इस प्रत्यक्ष जगत् में कहीं भी नहीं है। उसे उपलब्ध करने के लिए चेतन जगत् को सूक्ष्म जगत् से ही संबंध साधना पड़ता है। उपासना के क्षणों में इसी के लिए पुरुषार्थ किया जाता है।

प्रत्यक्ष जगत् में जड़ पदार्थ भरा पड़ा है। इसमें एक भाग वह है जो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दूसरा वह जो बिजली, विकिरण, ईश्वर ऊर्जा तरंग आदि के रूप में अदृश्य रूप से विद्यमान है। परोक्ष जगत् में चेतना का महा समुद्र भरा पड़ा है। उसमें प्रवेश कर सकें, डुबकी मारकर रत्नराशि खोज सकना संभव हो सके, तो उससे इतनी विभूतियों का संचय किया जा सकता है, जिसकी तुलना में जड़ जगत् की संपदाएँ नितांत तुच्छ ठहरती हैं। महामानवों और आत्म बल संपन्न महात्माओं का आंतरिक वैभव इतना बढ़ा चढ़ा होता है कि वे अपनी नाव पार लगाने के साथ-साथ असंख्यों को अपने प्रकाश एवं सहयोग से पार करते हैं। आत्म शक्ति संपन्न व्यक्ति अपनी विभूतियों को लोक हित में लगाने का विवेक जाग्रत् रहने के कारण स्वयं संयम बरतते देखे जाते हैं, इतने पर भी वे दरिद्र नहीं होते। उनके

उपार्जन-वैभव का लाभ समस्त संसार उठाता है। स्वयं भी लक्ष्य प्राप्त करते हुए कृत्य- कृत्य बनते ही हैं।

सूक्ष्म जगत् ब्राह्मी चेतना से भरा हुआ है। जिस प्रकार पदार्थ का आकार भार और गुण होता है, उसी प्रकार विश्व व्यापी ब्रह्म चेतना में सत-चित् और आनंद का भंडार भरा पड़ा है। जीव का साधारणतया ब्रह्म के साथ इतना ही संबंध रहता है कि किये हुए कर्मों की प्रतिक्रिया सुख और दुःख के रूप में प्राप्त होती रहे। उत्पादन अभिवर्धन और परिवर्तन का क्रम चलता रहे। ईश्वर का प्राणियों के साथ सामान्यतया इतना ही संबंध रहता है, जिससे सृष्टि का स्वाभाविक क्रम चलता रहे और मर्यादा पालन का-संतुलन की व्यवस्था में व्यतिरेक न होने पाए। इससे अतिरिक्त अधिक गहरा संबंध बनाना हो तो उसके लिए कुछ विशेष प्रयत्न पुरुषार्थ करने पड़ते हैं। उपासना को इसी स्तर की चेष्टा कह सकते हैं।

नागरिक कर्तव्यों के नाते सब मनुष्य सभी के साथ कर्तव्य पालन की सामान्य शृंखला में बँधे हुए हैं, किंतु मैत्री के आधार पर जिनसे घनिष्ठता के बंधन बँध जाते हैं, उनमें आदान-प्रदान का अधिक गहरा क्रम चल पड़ता है। सरकार के साथ प्रत्येक प्रजाजन राष्ट्रीय कर्तव्यों की सूत्र शृंखला में बँधा है, पर जब सरकार के कामों में उसके अभीष्ट प्रयोजनों में जब अधिक सहयोग दिया जाता है, तो शासन की ओर से भी अधिक सहयोग अनुदान एवं पुरस्कार मिलता है। ब्रह्म तत्त्व के साथ सघनता स्थापित कर लेने पर उस क्षेत्र में भरी पड़ी उन मंगलमयी विभूतियों का लाभ मिलता है, जिन्हें व्यक्ति में देवत्व के उदय के रूप में देखा जा सकता है। उसके संपर्क में स्वर्गीय परिस्थितियाँ बिखरी दृष्टिगोचर होती हैं।

● आत्मिक संपदा का अर्जन

भौतिक संपदाओं का हर व्यक्ति सीमित मात्रा में ही उपयोग कर सकता है; चाहे वे कितनी ही बड़ी मात्रा में संचित क्यों न कर ली जाएँ। वे दूसरों को ही चमत्कृत करती हैं, पर

अपने लिए तो उपार्जन और संरक्षण के दबाव को देखते हुए भारी ही पड़ती हैं। आत्मिक संपदाओं के बारे में ऐसी बात नहीं है। वे चिरस्थायी होती हैं, व्यक्तित्व का अंग बनती हैं, जन्म-जन्मांतरों तक साथ जाती हैं। ब्रह्म चेतना के साथ संपर्क साधकर मनुष्य जिन विभूतियों को प्राप्त करता है, उनसे व्यक्तित्व का स्तर बहुत ऊँचा उठ जाता है। गुण-कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता बढ़ती है, दृष्टिकोण व व्यवहार में श्रेष्ठता की मात्रा बढ़ती है। फलतः संपर्क क्षेत्र में स्नेह, सम्मान और सहयोग की असाधारण वर्षा होने लगती है। जन सहयोग से भौतिक सफलताओं का द्वार खुलता है। आत्म संतोष और आत्म गौरव का अनुभव भी इन्हीं परिस्थितियों में होता है। उपासना यदि सही सिद्धांतों को समझते हुए, सही आधार को अपनाते हुए की जा सके, तो उसके प्रत्यक्ष सत्परिणाम हर किसी को मिल सकते हैं। आत्मिक विभूतियों की और मौलिक संपदाओं की कमी नहीं रहती। इस दिशा में कदम बढ़ाने वाले के लोक और परलोक दोनों ही बनते हैं।

सृष्टि में परमार्थ की मात्रा प्रचुर परिमाण में विद्यमान है, पर उसे प्राप्त करने के लिए उपायों-उपकरणों की आवश्यकता होती है। जमीन से अन्न उपजाने, पशुओं से दूध निकालने, धातु से औजार बनाने, कुँए से जल निकालने, अन्न से भोजन बनाने के लिए श्रम साधन और बुद्धि तीनों का उपयोग करना पड़ता है। इनके बिना सारे साधन सामने प्रस्तुत रहने पर भी कोई लाभ न उठाया जा सकेगा। ब्रह्म सत्ता सर्वत्र विद्यमान है, पर उसकी अभीष्ट मात्रा पकड़ने, भीतर धारण करने और प्रयोग में लाने के लिए भी पुरुषार्थ करना पड़ता है। उसी प्रयत्न पुरुषार्थ को उपासना कहा गया है। बिजली घर में बिजली बनती है। वहाँ से अपने घर के बल्व तक उस धारा को जोड़ने के लिए तारों का फिटिंग करना पड़ता है, खंभे, इन्सुलेटर, स्विचप्लग लगाने पड़ते हैं। यदि संबंध कटा रहे तो बल्व को बिजली की शक्ति का लाभ मिलने और प्रकाशित होने का अवसर ही न मिलेगा। उपासना

प्रक्रिया को ईश्वर और जीव के बीच विशिष्ट आदान-प्रदान का द्वार खोल देना कह सकते हैं।

चुंबकत्व जहाँ होता है, वहाँ सजातीय पदार्थ खिंचते चले आते हैं। वृक्षों का चुंबकत्व बादलों को बरसने के लिए बाध्य करता है। धातुओं में काम करने वाला चुंबकत्व दूर-दूर तक रेत में बिखरे पड़े धातु कणों को घसीटकर अपने पास बुलाने और जमा करने का काम करता है। फूल का आकर्षण मधुमक्खियों तितलियों को जमा कर लेता है। उपासना से अंतःचेतना में उच्चस्तरीय आकर्षण उत्पन्न होता है। उससे ब्रह्म चेतना के महा समुद्र में से अपने लिए आवश्यक विभूतियों को आकर्षित कर लेने में सफलता मिलती है। उपासना प्रक्रिया का तात्त्विक रहस्य अंतःचेतना को परिष्कृत करना है। भजन के साबुन से अंतःकरण पर जमे हुए कषाय-कल्मषों दोष-दुर्गुण-कुसंस्कारों का परिशोधन होता है। स्वच्छ वस्त्र पर रंगाई करने में कुछ कठिनाई नहीं होती। स्वच्छ दर्पण सामने होने से आकृति स्पष्ट दीखती है। उपासना से आंतरिक स्वच्छता का उद्देश्य पूरा होता है और उस पर आराध्य परब्रह्म का प्रतिबिंब स्पष्ट दीखने लगता है।

● उपासना प्रामाणिक हो

उपासना का शब्दार्थ है—समीप बैठना। ईश्वर और जीव के बीच रहने वाली दूरी को समाप्त करके जिस प्रक्रिया से निकटता बनती हो उसे उपासना कहा जा सकता है। समीपता से विशेषताओं का आदान-प्रदान होता है। एक के गुण दूसरे को प्राप्त होते हैं। सत्संग के लाभ और कुसंग के दुष्परिणाम सर्व विदित हैं। अधिक प्रभावशाली तत्त्व कम सामर्थ्यवानों को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं। आग के निकट आने वाले पदार्थ गरम होते हैं और जलने लगते हैं। बर्फ के स्पर्श में जो भी पदार्थ आता है, ठंडा होता जाता है। सुगंधित और दुर्गंधित पदार्थों के संपर्क में आने वाली वस्तुओं में भी वैसी ही भली या बुरी गंध आने लगती है। हरी घास पर पलने वाले टिड्डे हरे रंग के होते

हैं और हिम प्रदेश में पाये जाने वाले भालू, सफेद रंग के होते हैं। दर्पण के समीप जो भी वस्तु पहुँचती है, उसका प्रतिबिंब उस पर दीखता है। इसे संगति की समीपता का प्रभाव कह सकते हैं।

उपासना में भी ऐसा ही होता है। ईश्वर के समीप बैठने से उसकी विशेषताएँ बैठने वाले के व्यक्तित्व में अवतरित होने लगती है। ईश्वर महान् है। उसकी समीपता महानता की वृद्धि करती है। ईश्वर अनेकों श्रेष्ठताओं का पुंज है, पास बैठने में वे श्रेष्ठताएँ प्रवेश करती हैं। ईश्वर विभूतिवान् है, साधक में विभूतियों की अभिवृद्धि होती है। राजा के अर्दली का भी मान बढ़ जाता है, उसके पास बैठने वाले दरबारियों का रुतवा बढ़ता है। फिर कोई कारण नहीं कि ईश्वर की समीपता यदि वास्तविक हो तो उसका प्रभाव उपासनारत व्यक्ति पर न पड़े।

यह समीपता जब घनिष्ठता में परिणत होती जाती है, तो फिर आदान-प्रदान का सिलसिला और भी अधिक अच्छी तरह चल पड़ता है। उपासना में प्रमुख भावना आत्म समर्पण की मानी गई है। घनिष्ठता बढ़ते-बढ़ते एकता में परिणत हो जाती है। उपासना के विधि-विधानों का आधार यह है कि उपासक अपने आपको ईश्वर के अति निकट अनुभव करे, उसे स्वजन संबंधी माने। आत्मीय जनों के प्रति असामान्य ममता होती है। उनके लिए कुछ विशेष सोचना और विशेष करना पड़ता है। उनके प्रति कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी अधिक होते हैं। ऐसी ही मनोभूमि उपासक को विकसित करनी पड़ती है। उसे निकटतम संबंधियों में से एक के स्तर पर संबंध सूत्र में बाँधना पड़ता है। पितु, मातु, सहायक, स्वामी, सखा, जैसे किसी संबंध को मान लेने से सहज ही कौटुंबिक घनिष्ठता बढ़ती है, सघन संबंध सूत्र में बँधे होने की अनुभूति होती है। मीरा ने भगवान् को पति रूप में, सूरदास ने बाल रूप में माना था और भी कई कोमल, मृदुल, उत्कृष्टता की भावनाओं से भरे पूरे संबंध भगवान् के साकार उपासक निर्धारित करते हैं। इस मान्यता में अपनत्व का—घनिष्ठ संपर्क साधने का ही भाव है।

निराकार उपासक भी ध्यान धारणा के लिए कोई न कोई प्रतीक नियत करते हैं। इस मान्यता वाले प्रकाश पुंज के रूप में उसका चिंतन करते हैं। साथ ही यह भी धारणा करते हैं कि वह प्रकाश आत्म सत्ता के कण-कण में प्रवेश करके विभूतियों का अनुग्रह प्रदान करते हैं। साकार उपासना में भी स्वजनों की समीपता से जिस-जिस प्रकार की सुखद भाव-संवेदनाएँ उभरती हैं, उनका अनुभव किया जाता है। पूजा-उपचार के समस्त क्रिया-कलापों में यह भाव रहता है, मानो कोई अति श्रद्धास्पद अतिथि सामने उपस्थित हो और उसका श्रद्धासिक्त सत्कार किया जा रहा हो। धूप, दीप, नैवेद्य, चंदन, पुष्प, जल, आरती आदि भारतीय शिष्टाचार में सम्माननीय अतिथियों के सत्कार विधान हैं। गुरुजनों का समय-समय पर पूजन-अभिवादन इसी प्रकार होता है। इन उपचार कृत्यों को करते हुए उपासक अपने मनःक्षेत्र में यह मान्यता परिपक्व करता है कि ईश्वरीय देव सत्ता उसके सम्मुख विद्यमान है। उपस्थिति की यह मान्यता जितनी गहरी, जितनी ही वास्तविक होगी, उतना ही उपचार में आनंद आएगा और प्रभाव परिणाम परिलक्षित होगा।

किसी समर्थ सत्ता के साथ अपने आपको जोड़ देने, सजा देने से दुर्बल तत्त्व भी सबल और समर्थ बन जाते हैं। उसका स्तर एवं गौरव भी प्रायः उतना ही ऊँचा उठ जाता है, जितना कि समर्थ सत्ता का होता है। बच्चे के हाथ में डोरी रहने पर उसके इशारे से पतंग आसमान में तैरती और तरह-तरह की उछल-कूद दिखाकर दर्शकों का मनोरंजन करती है। पतंग और उड़ाने वाले का संबंध टूट जाए तो वह कागज का टुकड़ा आसपास में उड़ना तो दूर जमीन पर पड़ा-पड़ा ही नष्ट हो जायेगा। अपने बलबूते उठकर कहीं सुरक्षित स्थान तक न जा सकेगा। कठपुतली और मदारी के पारस्परिक संबंध सुदृढ़ रहें तो वे लकड़ी के टुकड़े मनमोहक अभिनय करते हैं। यह करामात इस कारण संभव हुई कि कठपुतलियों ने अपने को पूरी तरह चलते धागे के सहारे मदारी की उँगलियों में जोड़ दिया। इन घनिष्ठता से ही यह संभव

हुआ कि मदारी की अदृश्य कलाकारिता का श्रेय कठपुतली के खिलौने को प्राप्त है। यदि संबंध सूत्र टूट जाए तो खिलौने निष्क्रिय बने एक कोने में उपेक्षित पड़े होंगे, तब उनमें न तो कोई हलचल दिखाई देगी और न आकर्षण प्रतीत होगा।

बाँसुरी से राग-रागनियाँ तभी निकलती हैं, जब वह पोली होती हैं और अपने आपको वादक के होठों में पूरी तरह सटा देती है। उसके संकेतों पर अपनी साँसें लेती, छोड़ती है। यदि बाँसुरी में मिट्‌टी भरी हो अथवा होठों से दूर रहे तो यह संभव नहीं कि उसमें से मधुर ध्वनि-प्रवाह निकलकर सुनने वालों का मन मोहित कर सके।

बेल अपने बलबूते जमीन पर फैल सकती है, पर कमर पतली होने के कारण ऊपर नहीं उठ सकती। किंतु जब वह पेड़ से लिपटकर चलती है, तो उतनी ही ऊँची उठ जाती है जितना कि पेड़ होता है। बाँसुरी और बेल के उदाहरण समर्पण की उस भावना को व्यक्त करते हैं, जो उपासना में ईश्वर के साथ सटने और उसमें तादात्म्य होने से संबंधित हैं। तादात्म्य होने का अर्थ है—अपनी कामनाओं को ईश्वर की प्रेरणाओं के अनुरूप ढालना, उसके संकेत-निर्देशों के आधार पर अपनी गतिविधियों का निर्धारण करना। यह स्थिति जब भी जहाँ भी बन रही हो, समझना चाहिए कि वहाँ सच्ची उपासना का मर्म समझ लिया गया और उसका परम श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न होना सुनिश्चित हो गया।

नाला जब तक अपना स्वतंत्र नाम-रूप बनाये रहता है, तब तक वह नाला ही कहलाता है और उफनता-मटकता है, किंतु जब वह गंगा में मिल जाता है, तो उसका पानी गंगाजल माना जाता है। उसे भी इतना ही मान महत्त्व मिलता है, जितना असली गंगाजल को। बूँद जब समुद्र में मिलती है, तो उसकी क्षुद्रता सदा-सर्वदा के लिए समाप्त हो जाती है। तब वह अपने में समस्त समुद्र को और समुद्र में अपने आपको समाया हुआ देखकर गर्वोन्नत सिर उठाती है। दूध और पानी जब परस्पर मिल जाते हैं। तो दोनों का नाम, रूप और भाव एक ही हो जाता है। जीव जब

परमेश्वर के समीप पहुँचता है, तो उसकी विशेषताओं को अपने में धारण करता है और जब एक कदम आगे बढ़कर समर्पण की स्थिति में पहुँचता है तो आत्मा और परमात्मा में अंतर इतना ही रह जाता है कि एक ससीम होता है और दूसरा असीम। कटोरे में और भगौने में भरा पानी मात्रा में ही न्यूनाधिक होता है, दोनों में विशेषताएँ एक जैसी ही रहती हैं।

पति और पत्नी के दांपत्य जीवन की सफलता इस समर्पण भाव पर ही निर्भर रहती है। पत्नी अपना शील, श्रम, मन, व्यवहार, पति की मर्जी पर छोड़कर निश्चिंत हो जाती है। लगता है, इसमें उसने गँवाया ही गँवाया है। पर ध्यानपूर्वक देखने से एक और पहलू सामने आता है कि उसके बिना कीमत दिये एक सुयोग्य साथी को-उसके शरीर मन को-सारे धन वैभव को खरीद लिया। पत्नी, पति की आज्ञानुवर्ती बनती है, तो पति भी पत्नी का बेपैसे का गुलाम बन जाता है। उस पर प्राण निछावर करता है और छाया की तरह साथ देता है। पति के वंश, पद, यश आदि में पत्नी समान रूप से भागीदार हो जाती है, पति की मृत्यु हो जाने पर वह, उसके बच्चे ही उसके जीवन भर का उपार्जन उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं। भक्त और भगवान् का रिश्ता भी इसी प्रकार का है। समीपवर्तियों का ध्यान हर कोई रखता है फिर आश्रितों की तो पूरी ही चिंता करनी पड़ती है। अपने पास-पड़ौस में कोई रहता है—समीप वाली मेज पर काम करता है, तो स्वभावतः उसके दुःख-दर्द में अपनी पूरी सहानुभूति होती है और आवश्यक सहायता के लिए सहज ही प्रयत्न होते हैं। ईश्वर के समीप जो भी है, उपासना के माध्यम से जिसने निकटवर्ती स्थान प्राप्त कर लिया है, उन्हें अभीष्ट दैवी सहकार निश्चित रूप में मिलता है। फिर जो उसके आज्ञानुवर्ती हैं, समर्पित आश्रित एवं शरणागत हैं, उसके लिए दिया गया वह वचन कभी मिथ्या नहीं होगा, जिसमें भक्तों के योग और क्षेम के वहन करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर उठाया है। मनुष्य अपने आश्रित परिवार के भरण-पोषण का विकास एवं सुरक्षा की व्यवस्था पूरी जिम्मेदारी के साथ निबाहता है। ईश्वर ने भी सदा यह उत्तरदायित्व निबाहा है कि जो उसके

निर्देशों का अनुसरण करता है—अनुशासन मानता है और उसकी इच्छा से अपनी इच्छा मिलाकर प्रभु समर्पित जीवन जीता है, उसके आंतरिक स्तर को निरंतर ऊँचा उठाया जाए। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व ऊँचा उठेगा तो संपर्क क्षेत्र में प्रामाणिकता और सद्भावना बढ़ेगी। फलतः सहयोग और सम्मान मिलेगा। ऐसे विश्वस्त समझे जाने वाले लोकप्रिय व्यक्ति अपनी चारित्रिक विशिष्टता के बल पर जन समर्थन से उच्च पदों पर जा पहुँचते हैं। वे जिस भी काम को हाथ में लेते हैं, सफल होते चले जाते हैं। यही वे सिद्धियाँ हैं, जो ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त हुई समझी जा सकती हैं। इन्हें उपासना का प्रतिफल कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

निस्संदेह ब्रह्मांड-व्यापी ब्रह्म चेतना निराकार है। व्यापक शक्ति एक देशीय नहीं हो सकती, किंतु उससे संपर्क साधने के लिए कोई प्रतीक मानकर ही उससे संबंध बन सकता है। निराकार इतना व्यापक है कि उसका समग्र ध्यान हमारी कल्पना के छोटे से क्षेत्र में सीमा-बद्ध नहीं हो सकता। भावभरा ध्यान ही एकमात्र वह आधार है, जिसके सहारे चेतना खंडों के बीच सघनता स्थापित हो सकती है। भावभरा ध्यान करने की क्षमता विकसित किये बिना, जीव और ब्रह्म के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता। व्यापक ब्रह्म का ध्यान कैसे किया जाए और जो निस्पृह है, उसके साथ भावों का आरोपण कैसे हो ? इस प्रश्न के समाधान में तत्त्वदर्शियों को एकमात्र उपाय यही हाथ लगा है कि उसकी प्रतीक-प्रतिमा बनाई जाये और उसके साथ आत्मीयता भरा कोई संबंध स्थापित किया जाये। किसी व्यक्ति को पकड़ना होता है तो उसका सारा शरीर नहीं पकड़ा जाता, हाथ पकड़ लेने से भी वह पकड़ में आ जाता है। निराकारवादी प्रकाश ज्योति को और साकारवादी अमुक देवता या अवतार की आकृति को ईश्वर की प्रतिमा मानकर उसकी समीपता का अभ्यास करते हैं। उपासना अवधि में ऐसी धारणा की जाती है कि परमेश्वर की सत्ता का प्रतीक इष्टदेव सामने विद्यमान है। उसके साथ अपना अत्यंत घनिष्ठ कौटुंबिक संबंध जुड़ा हुआ है। दोनों के बीच असीम आत्मीयता है। भक्त भगवान् को प्राणप्रिय मानता है और उसके अति

निकट सटकर बैठा मानता है। भक्त अपना समर्पण भगवान् में करता है और बदले में उसे अनुग्रह उपलब्ध होता है। भक्त की इच्छाएँ, कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं और उसके स्थान पर भगवान् का अनुशासन भक्त के अंतरंग पर, चिंतन क्षेत्र पर स्थापित होता है। क्रिया क्षेत्र पर उन्हीं के बताये आदर्शों का परिपालन होता है। यही शरणागति की भावना है। इसी को समर्पण योग कहते हैं। भक्ति का सारा तत्त्वज्ञान इसी भावना में समाविष्ट है।

ईश्वर सद्गुणों का पुंज है। सत्यं, शिवं, सुंदरम् के रूप में उसकी दिव्य विभूतियों का संकेत है। समीप बैठने वाले में प्रभावी सत्ता की विशेषताओं का अवतरण होना ही चाहिए। समदर्शी, न्याय-निष्ठ, उदार व्यवस्थापक, परमार्थ परायण, सौंदर्य संयोजक, कर्मरत, जैसी ईश्वरीय सत्प्रवृत्तियों को परिचय की दृष्टि से दृष्टि पसारकर कहीं भी पाया जा सकता है। ईश्वर भक्त यदि सच्चे मन से उपासना करता है तो उसमें इन विशेषताओं का भी उदय अभिवर्धन होना चाहिए।

भक्त जनों का इतिहास यही है, उसकी निष्ठा जैसे-जैसे ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ परिपक्व होती गई है, वैसे-वैसे ही उसके गुण, कर्म, स्वभाव में श्रेष्ठता का अभिवर्धन होता चला गया है। गिलास में यदि पानी भरा जाये तो उसमें पहले की हवा बाहर निकल जायेगी। ईश्वर का देवत्व यदि साधक की आत्म सत्ता में प्रवेश करेगा तो फिर वहाँ असुरता के लिए कोई स्थान नहीं रह जायेगा। स्वार्थांधता और निष्ठुरता का निर्वाह भक्ति भावना के साथ हो नहीं सकता। प्रकाश और अंधकार दोनों एक साथ किस तरह ठहर सकेंगे ?

ईश्वर का अवतार धर्म की स्थापना और अधर्म का विनाश करने के लिए होता है। अवतारों के समस्त क्रियाकलाप इन्हीं दो प्रयोजनों पर केंद्रीभूत रहे हैं। मनुष्य की अंतरात्मा में उपासना के फलस्वरूप यदि ईश्वरत्व का अवतरण होगा तो फिर निश्चित रूप में यही दो उमंगें प्रबल होती चली जायेंगी। निज जीवन में और संपर्क क्षेत्र में इन्हीं दो प्रवृत्तियों के लिए अदम्य उत्साह उठने लगेगा। दोष-दुर्गुणों की असुरता हटाने और सद्भावनाओं-

सत्प्रवृत्तियों की दिव्यता बढ़ाने के लिए उपासनारत व्यक्ति को निरंतर प्रयत्नशील पाया जायेगा। जिसमें यह दोनों उमंगें जिस मात्रा में उठती पाई जाये, समझना चाहिए कि उनकी भक्ति भावना—उपासना—उतनी ही सच्ची और सार्थक है।

भावनाओं में श्रद्धा तत्त्व का गहरा समावेश करके, परमेश्वर के साथ एकात्म भाव की अभिवृद्धि के लिए उपासना प्रक्रिया के अंतर्गत अभ्यास किया जाता है। यह भाव संवेदनाएँ ही भक्ति कहलाती हैं। भगवान् का भक्त के वशवर्ती होने का तथ्य सर्वविदित है। इन्हीं सुदृढ़ ध्यान-धारणाओं को श्रद्धा कहा गया है। इसी की सघनता के आधार पर जीव और ब्रह्म के बीच वे आदान-प्रदान संभव होते हैं, जिनकी ईश्वर उपासना के माध्यम से आशा-अपेक्षा की जाती है।

आत्मीयता, श्रद्धा और तन्मयता की भाव-भूमिका कितनी प्रखर होती है, इसका विवरण इतिहास के पन्नों पर विद्यमान है। असाधारण सफलताएँ पाने वाले, निराशा में आशा का संचार करने वाले—असंभव को संभव करने वाले मनस्वी लोगों में यही तीन विशेषताएँ होती हैं। आत्मिक प्रगति के लिए भी ऐसी ही भावभरी मनःस्थिति बनानी है। इसके लिए इष्टदेव का निर्धारण और उनके साथ एकात्म भाव का संस्थापन ऐसा अभ्यास है, जिसके फल-स्वरूप अभीष्ट सफलता मिलती है। ब्रह्मचेतना के साथ जीव का संबंध इसी श्रद्धा-विश्वास की सहायता से बनता है। चेतन सत्ता के पास इससे बड़ा और कोई बंधन दूसरे चेतना घटक को पकड़ने के लिए है नहीं। मनुष्यों के बीच सुदृढ़ मैत्री इसी आधार पर बनती, पनपती और परिपक्व होती है। एक व्यक्ति दूसरे के लिए प्राण निछावर करता है, सब कुछ लुटा देता है और बड़े से बड़े संकट सहने को तैयार रहता है। यह प्रेम तत्त्व के आधार पर विकसित हुई घनिष्ठता ही है। इसी को श्रद्धा-भक्ति कहते हैं। उपासना का समुचित सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए मात्र कर्मकांड ही पर्याप्त ही नहीं। उसके साथ श्रद्धा तत्त्व का समुचित समन्वय भी होना चाहिए।

❐ ❐

तन्मयता एवं नियमितता आवश्यक

उपासना में एकाग्रता पर बहुत जोर दिया गया है। ध्यान-धारणा का अभ्यास इसीलिए किया जाता है कि मन की अनियंत्रित भगदड़ करने की आदत पर नियंत्रण स्थापित किया जाये और उसे तथ्य विशेष पर केंद्रित होने के लिए प्रशिक्षण किया जाये।

एकाग्रता एक उपयोगी सत्प्रवृत्ति है। मन की अनियंत्रित कल्पनाएँ, अनावश्यक उड़ानें उस उपयोगी विचार शक्ति का अपव्यय करती हैं, जिसे यदि लक्ष्य विशेष पर केंद्रित किया गया होता तो गहराई में उतरने और महत्त्वपूर्ण उपलब्धता प्राप्त करने का अवसर मिलता। यह चित्त की चंचलता ही है, जो मनःसंस्थान की दिव्य क्षमता को ऐसे ही निरर्थक गँवाती और नष्ट-भ्रष्ट करती रहती है। संसार के वे महामानव जिन्होंने किसी विषय में पारंगत प्रवीणता प्राप्त की है या महत्त्वपूर्ण सफलताएँ उपलब्ध की हैं, उन सबको विचारों पर नियंत्रण करने—उन्हें अनावश्यक चिंतन से हटा कर उपयोगी दिशा में चलाने की क्षमता प्राप्त रही है। इसके बिना चंचलता की वानर वृत्ति से ग्रसित व्यक्ति न किसी प्रसंग पर गहराई के साथ सोच सकता है और न किसी कार्यक्रम पर देर तक स्थिर रह सकता है। शिल्प, कला, साहित्य, शिक्षा, विज्ञान, व्यवस्था आदि महत्त्वपूर्ण सभी प्रयोजनों की सफलता में एकाग्रता की शक्ति ही प्रधान भूमिका निभाती है। चंचलता को तो असफलता की सगी बहिन माना जाता है। बाल चपलता का मनोरंजक उपहास उड़ाया जाता है। वयस्क होने पर भी यदि कोई चंचल ही बना रहे, विचारों की दिशाधारा बनाने और चिंतन पर नियंत्रण स्थापित करने में सफल न हो सके तो समझना चाहिए कि आयु बढ़ जाने पर भी उसका मानसिक स्तर बालकों जैसा ही बना हुआ है। ऐसे लोगों का भविष्य उत्साहवर्धक नहीं।

आत्मिक प्रगति के लिए तो एकाग्रता की और भी अधिक उपयोगिता है। इसलिए 'मेडीटेशन' के नाम पर उसका अभ्यास विविध प्रयोगों द्वारा कराया जाता है। इस अभ्यास के लिए कोलाहल रहित ऐसे स्थान की आवश्यकता समझी जाती है, जहाँ विक्षेपकारी आवागमन या कोलाहल न होता हो। एकांत का तात्पर्य जनशून्य स्थान नहीं वरन् विक्षेप रहित वातावरण है। सामूहिकता हर क्षेत्र में उपयोगी मानी है। प्रार्थनाएँ सामूहिक ही होती हैं। उपासना भी सामूहिक हो तो उसमें हानि नहीं लाभ ही है। मस्जिदों में नमाज, गिरजाघरों में प्रेयर, मंदिरों में आरती सामूहिक रूप से ही करने का रिवाज है। इसमें न तो एकांत की कमी अखरती है और न एकाग्रता में कोई बाधा पड़ती है। एक दिशाधारा का चिंतन हो रहा हो तो अनेक व्यक्तियों का समुदाय भी एक साथ मिल-बैठकर एकाग्रता का अभ्यास भली प्रकार कर सकता है। एकांत में बैठना वैज्ञानिक, तात्त्विक शोध-अन्वेषण के लिए आवश्यक हो सकता है, उपासना के सामान्य संदर्भ में एकांत ढूँढने-फिरने की ही कोई खास आवश्यकता नहीं है। सामूहिकता के वातावरण में ध्यान-धारणा और भी अच्छी तरह बन पड़ती है। सेना का सामूहिक कार्य साथ-साथ कदम मिलाकर चलने से-सैनिकों में से किसी का भी ध्यान नहीं बँटता वरन् साथ-साथ चलने की पग ध्वनि के प्रवाह में हर एक के पैर और भी अच्छी तरह अपने आप नियत क्रम से उठते चले जाते हैं। सहगमन से पग क्रम को ठीक रखने में बाधा नहीं पड़ती वरन् सहायता ही मिलती है। सहगान की तरह सहध्यान तथा सहभजन भी अधिक सफल और अधिक प्रखर बनता है।

उपासना के लिए जिस एकाग्रता का प्रतिपादन है, उसका लक्ष्य है—भौतिक जगत् की कल्पनाओं से मन को विरत करना और उसे अंतर्जगत् की क्रिया-प्रक्रिया में नियोजित कर देना। उपासना के समय यदि मन सांसारिक प्रयोजनों में न भटके और आत्मिक क्षेत्र की परिधि में परिभ्रमण करता रहे, तो समझना चाहिए कि एकाग्रता का उद्देश्य ठीक तरह पूरा हो रहा है। विज्ञान

के शोध कार्यों में, साहित्य के सृजन प्रयोजनों में, वैज्ञानिक या लेखक का चिंतन अपनी निर्धारित दिशा धारा में ही सीमित रहता है। इतने भर में एकाग्रता का प्रयोजन पूरा हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के बौद्धिक पुरुषार्थों में मन और बुद्धि को असाधारण रूप से गतिशील रहना पड़ता है और कल्पनाओं को अत्यधिक सक्रिय करना पड़ता है तो भी उसे चंचलता नहीं कहा जाता है। अपनी निर्धारित परिधि में रहकर कितना ही द्रुतगामी चिंतन क्यों न किया जाए ? कितनी ही कल्पनाएँ, कितनी ही स्मृतियाँ, कितनी ही विवेचनाएँ क्यों न उभर रही हों, वे एकाग्रता की स्थिति में तनिक भी विक्षेप उत्पन्न नहीं करेंगी। गड़बड़ तो अप्रासंगिकता में उत्पन्न होती है। बेतुका—बेसिलसिले का-अप्रासंगिक-अनावश्यक चिंतन ही विक्षेप करता है। एक बेसुरा वादन पूरे आरकेस्ट्रा के ध्वनि प्रवाह को गड़बड़ा देता है, ठीक इसी प्रकार चिंतन में अप्रासांगिक विक्षेपों का ही निषेध है। निर्धारित परिधि में कितनी ही कितने ही प्रकार की कल्पनाएँ-विवेचनाएँ करते रहने की पूरी-पूरी छूट है।

कई व्यक्ति एकाग्रता का अर्थ मन की स्थिरता समझते हैं और शिकायत करते हैं कि उपासना के समय उनका मन भजन में स्थिर नहीं रहता। ऐसे लोग एकाग्रता और स्थिरता का अंतर न समझने के कारण ही इस प्रकार की शिकायत करते हैं। मन की स्थिरता सर्वथा भिन्न बात है। उसे एकाग्रता की मिलती-जुलती स्थिति तो कहा जा सकता है, पर दोनों का सीधा संबंध नहीं है। जिसका मन स्थिर हो, उसे एकाग्रता का लाभ मिल सके या जिसे एकाग्रता की सिद्धि है, उसे स्थिरता की प्राप्ति हो ही जाय, यह आवश्यक नहीं है।

स्थिरता को निर्विकल्प समाधि कहा गया है और एकाग्रता को सविकल्प कहा गया है। सविकल्प का तात्पर्य है—उस अवधि में आवश्यक विचारों का क्षेत्र में अपना काम करते रहना। निर्विकल्प का अर्थ है—एक केंद्र बिंदु पर सारा चिंतन सिमट कर स्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो जाना।

यहाँ मनःसंस्थान की संरचना को ध्यान में रखना होगा। मस्तिष्क की बनावट एक प्रचंड विद्युत् भंडार जैसी है। उसके भीतर और बाहरी क्षेत्र में विचार तरंगों के आँधी-तूफान निरंतर उठते रहते हैं। यह तरंग-तूफान जितने तीव्र गति संपन्न होते हैं, वह मस्तिष्क उतना ही उर्वरक और कुशाग्र बुद्धियुक्त माना जाता है। जहाँ इन तरंगों में जितनी मंदगति हो समझना चाहिए कि वहाँ उतनी ही जड़ता, दीर्घ सूत्रता, मूर्खता छाई रहेगी। हारे-थके मस्तिष्क को निद्रा घेर लेती है अर्थात् उसकी गतिशीलता शिथिल हो जाती है। यह कृत्रिम निद्रा नशीली दवाएँ पिलाकर, क्लोरोफार्म, ईथर आदि सुँघाकर, सुन्न करने वाली दवा लगाकर उत्पन्न की जा सकती है। मूर्च्छा की स्थिति में मस्तिष्क की गतिशीलता ठप्प हो जाती है। स्थिरता ऐसे ही स्तर की हो सकती है। गड्ढे में बंद होने के प्रदर्शन वाली जड़ समाधि में ऐसी ही स्थिरता होती है। मनस्वी लोग अपनी संकल्प शक्ति से हृदय की धड़कन और मस्तिष्क की सक्रियता को ठप्प कर देते हैं। स्थिरता जड़ समाधि के वर्ग में आती है। वह संकल्पशक्ति से या औषधियों से उत्पन्न की जा सकती है। स्थिरता का लाभ विश्राम मिलना है। इससे आंतरिक थकान दूर हो सकती है और जिस तरह निद्रा के उपरांत जागने पर नई चेतनता एवं स्फूर्ति का अनुभव होता है, वैसा ही मन की स्थिरता का निर्विकल्प समाधि का भी लाभ मिल सकता है। सामान्य रूप में इस स्थिति को शिथिलीकरण मुद्रा का एक प्रकार कहा जा सकता है। उसमें भी शरीर और मन की स्थिरता-शिथिलता का ही अभ्यास किया जाता है। मैस्मरेजम-हिप्नोटिज्म प्रयोगों में भी इसी का अभ्यास काले गोले के माध्यम से करना पड़ता है। नेत्रों में बेधक दृष्टि उत्पन्न करने के लिए एकाग्र मनःशक्ति को एक स्थान पर केंद्रित करते हैं, मैस्मरेजम का यही आधार है। ऐसे ही सामान्य चमत्कार उस स्थिरता से उत्पन्न किये जा सकते हैं, जिसके लिए आमतौर से अध्यात्म साधना के विद्यार्थी लालायित रहते हैं, जिसके न मिलने पर अपने अभ्यास की असफलता अनुभव करके खिन्न होते हैं।

मन की स्थिरता अति कठिन है। वह हठयोग से ही संभव हो सकती है। तीन मिनट की स्थिरता मिल सके तो साधक शून्यावस्था में जाकर निद्रा ग्रस्त हो जाता है। जिन्हें निर्विकल्प समाधि अभीष्ट हो उन्हें ही स्थिरता की अपेक्षा और चेष्टा करनी चाहिए। जिन्हें सविकल्प साधना में स्थिरता की नहीं, एक दिशाधारा में मन को नियोजित किये रहने की आवश्यकता है, परब्रह्म में आत्म समर्पण और उस परा-शक्ति का आत्म सत्ता में अवतरण ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन है, उसके लिए कितने ही प्रकार की साकार-निराकार ध्यान धारणाएँ विद्यमान हैं, उनमें से जो उपयोगी एवं रुचिकर लगे उसे अपनाया जा सकता है।

स्थिरता स्तर की एकाग्रता हिप्नोटिज्म प्रयोगों में तो काम में आती ही है, सरकस के अनेक खेलों में भी मानसिक संतुलन ही चमत्कार दिखा रहा होता है। स्मरण शक्ति के धनी भी प्रायः एकाग्रता के ही अभ्यासी होते हैं। गणितज्ञों में तो यह विशेषता पाई ही जायेगी। शोधकर्ताओं की सफलता का आधार यही है। उतने पर भी उसे आत्मिक प्रगति की अनिवार्य शर्त नहीं माना जा सकता। उसे सहायक ही कहा जा सकता है। यदि ऐसा न होता तो यह सब एकाग्रता संपन्न लोग आत्मबल संपन्न हो गये होते और उनकी गणना सिद्ध योगियों में की जाने लगती। इसके विपरीत प्रायः सभी भावुक भक्त भावावेशजन्य चंचलता से ग्रस्त रहे हैं। मीरा, चैतन्य, रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस आदि इसी वर्ग के थे, जिन पर प्रायः भावावेश ही छाया रहता था। वे एकाग्र चित्त तो कदाचित् ही कभी हो पाते हों।

एकाग्रता के अभ्यास के लिए इष्ट देवताओं का निर्धारण करना होता है। उनकी चित्र, विचित्र आकृतियाँ, आभूषण, वस्त्र, आयुध, वाहन, इस दृष्टि से बनाये गये हैं कि ध्यान करने के लिए सुविस्तृत क्षेत्र मिल जाए। मन की दौड़ उन सब पर अदल-बदल—उछल-कूद करती रहती है। एक परिधि में मन को सीमित दौड़ लगाने का अवसर मिलता रहता है। पूर्ण एकाग्रता या

स्थिरता की ध्यानयोग के आरंभिक चरण में उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि समझी जाती है।

जिस एकाग्रता की आवश्यकता, अध्यात्म प्रगति के लिए बताई गई है, वह मन की स्थिरता नहीं वरन् चिंतन की दिशाधारा है। उपासना के समय सारा चिंतन आत्मा का स्वरूप, क्षेत्र, लक्ष्य समझने में लगना चाहिए और यह प्रयास रहना चाहिए कि ब्राह्मी चेतना के गहरे समुद्र में डुबकी लगाकर आत्मा की बहुमूल्य रत्नराशि संग्रह करने का अवसर मिले। उपासना का लक्ष्य स्थिर हो जाने पर उस समय जो विचार प्रवाह अपनाया जाना आवश्यक है, उसे पकड़ सकना कुछ कठिन न रह जायेगा।

मन की स्थिरता एवं एकाग्रता का सार तत्त्व 'तन्मयता' शब्द में आ जाता है। गायत्री उपासना में यह प्रयोजन तन्मयता से पूरा होता है। तन्मयता का अर्थ है—इष्ट के साथ भाव संवेदनाओं को केंद्रीभूत कर देना। यह स्थिति तभी आ सकती है, जब इष्ट के प्रति असीम श्रद्धा हो। श्रद्धा तब उत्पन्न होती है जब किसी की गरिमा पर परिपूर्ण विश्वास हो। साधक को अपनी मनोभूमि ऐसी बनानी चाहिए, जिसमें गायत्री महाशक्ति की चरम उत्कृष्टता पर, असीम शक्ति-सामर्थ्य पर, संपर्क में आने वाले के उत्कर्ष होने पर, गहरा विश्वास जमता चला जाये। यह कार्य शास्त्र वचनों का, अनुभवियों द्वारा बताये गये सत्परिणामों का, उपासना विज्ञान की प्रामाणिकता का, अधिकाधिक अध्ययन-अवगाहन करने पर संपन्न होता है। आशंकाग्रस्त, अविश्वासी जन, उपेक्षा भाव से आधे-अधूरे मन से उपासना में लगें, तो स्वभावतः वहाँ उसकी रुचि नहीं होगी और मन जहाँ-तहाँ उड़ता फिरेगा। मन लगने के लिए आवश्यक है कि उस कार्य में समुचित आकर्षण उत्पन्न किया जाये। व्यवसाय-उपार्जन में, इंद्रिय भोगों में, विनोद-मनोरंजनों में, सुखद कल्पनाओं में, प्रियजनों के संपर्क सान्निध्य में मन सहज ही लग जाता है। इसका कारण यह है कि इन प्रसंगों के द्वारा मिलने वाले सुख, लाभ एवं अनुभव के संबंध में पहले से ही विश्वास जमा होता है। प्रश्न यह नहीं कि वे आकर्षण दूरदर्शिता की दृष्टि

से लाभदायक हैं या नहीं। तथ्य इतना ही है कि उन विषयों के संबंध में अनुभव-अभ्यास के आधार पर मन में आकर्षण उत्पन्न हो गया है। उस आकर्षण के फलस्वरूप ही मन उनमें रमता है और भाग-भागकर जहाँ-तहाँ घूम फिरकर वहीं जा पहुँचता है। हटाने से हटता नहीं, भगाने से भागता नहीं। मानसिक संरचना के इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमें उपासना के समय मन को इष्ट पर केंद्रित रखने की आवश्यकता पूरी करने के लिए पहले से ही मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना चाहिए। गायत्री महाशक्ति के संदर्भ में जितना अधिक ज्ञान-विज्ञान संग्रह किया जा सके मनोयोग पूर्वक करना चाहिए। विज्ञ व्यक्तियों के साथ उसकी चर्चा करनी चाहिए। इस संदर्भ में होने वाले सत्संगों में नियमित रूप से जाना चाहिए। जिसने लाभ उठाये हों, उनके अनुभव सुनने चाहिए। यह कार्य यों तद् विषयक स्वाध्याय और मनन-चिंतन के एकाकी प्रयत्न से ही संभव हो सकता है, पर अधिक सरल और व्यवहारिक यह है कि गायत्री चर्चा के संदर्भ में चलने वाले सत्संगों में उत्साहपूर्वक नियमित रूप से सम्मिलित होते रहा जाये।

भूल यह होती रहती है कि किसी प्रकार जप संख्या पूरी कर लेने की ही उतावली रहती है और उसे ज्यों-ज्यों पूरी कर लेना ही पर्याप्त मान लिया जाता है। यह स्मरण नहीं रखा जाता कि वाणी से मंत्रोच्चार करने, उँगलियों से माला फिराने के शारीरिक श्रम प्रयोजन से ही इतने महान् उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती—उसके साथ मनोयोग और श्रद्धा का समावेश भी आवश्यक है। चेतना शक्ति के उत्थान-परिष्कार में तन्मयता सबसे बड़ा आधार है। शरीर से किये जाने वाले कर्मकांडों का प्रयोजन इतना ही है कि उनके कारण मस्तिष्क और अंतःकरण को साथ-साथ चलने का आधार मिल जाये। चिंतन का गहरा पुट रहने पर ही आत्मिक भूमिका में हलचलें होती हैं और प्रगति का सरंजाम जुटता है। यदि मन इष्ट पर जमे नहीं और मात्र उच्चारण का श्रम चलता रहे, तो उसका भी लाभ तो मिलेगा पर इतना स्वल्प होगा, जिससे अभीष्ट सत्परिणाम की अपेक्षा पूरी न

हो सकेगी। अस्तु यह मानकर चलना चाहिए कि उपासना कृत्य में मनोयोग का लगाया जाना नितांत आवश्यक है।

तन्मयता की स्थिति उत्पन्न करने के लिए धैर्यपूर्वक देर तक प्रयत्न करना होता है, यह एक दिन में संपन्न नहीं हो सकता। मन का पुराना अनुभव-अभ्यास भौतिक आकर्षणों के साथ खेल करते रहने का है। उसे इससे विरत करने के लिए उससे अधिक नहीं कम से कम उतना बड़ा आकर्षण तो प्रस्तुत किया ही जाना चाहिए। अरुचिकर प्रयोजन पर जमने की उसको आदत है ही नहीं। आकर्षण के अभाव में उसे बुरी तरह ऊब आती है और वहाँ से उचटने-भागने की ऐसी धमाचौकड़ी मचाता है कि देर तक उस कार्य को चलाते रहना कठिन हो जाता है। तरह-तरह की बहानेबाजी बनाकर, वहाँ से उठाने के लिए अचेतन मन कितनी-कितनी तरकीबें खड़ी करता है, यह सब देखते ही बनता है। खुजली उठना, जमुहाई आना, कोई साधारण-सा खटका होते ही उधर देखने लगना, पलथी बदलना, कपड़े सँभालना, जैसी चित्र-विचित्र क्रियाओं का होना यह प्रकट करता है कि मन यहाँ लग नहीं रहा और उस कार्य को छोड़कर जल्दी-जल्दी उठ चलने के लिए बार-बार तकाजा कर रहा है।

इस स्थिति का सामना करने के लिए प्रथम भूमिका यह है कि श्रद्धा जाग्रत् करने वाले स्वाध्याय और सत्संग का मनन और चिंतन का ऐसा क्रम बनाया जाना, जिससे उस दिशा में चलने के सत्परिणामों के संबंध में तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरणों के आधार पर उपासना के लिए श्रम करने की सार्थकता पर श्रद्धा और विश्वास गहरा होता चला जाए।

क्या सांसारिक, क्या आध्यात्मिक सभी कार्यों में सुव्यवस्था, क्रमबद्धता एवं नियमितता का भारी महत्त्व है। अस्त-व्यस्त ढंग से, अनियमित रीति से किये गये सभी काम काने-कुबड़े—आधे-अधूरे और लँगड़े-लूले पड़े रहते हैं। जब कर्ता का क्रम ही व्यवस्थित नहीं तो किये गये काम में ही उत्कृष्टता कैसे दीख पड़ेगी ? सफलता उन्हें मिलती है, जो पहले अपनी गतिविधियों को सुव्यवस्थित बना

लेते हैं। अस्त-व्यस्त रीति से काम करने वाले, मनमानी बरतने वाले प्रायः हर काम में असफल रहते देखे जाते हैं। अनुशासन का सद्गुण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रगतिशीलता उसी के साथ जुड़ी हुई है।

आत्मिक प्रगति आत्मानुशासन से आरंभ होती है। कई व्यक्ति उपासना के लिए बने हुए विधि-विधानों पर, नियमोपनियमों पर ध्यान नहीं देते और मनमौजी स्वेच्छाचार बरतते हैं। ऐसा करने से उसके सत्परिणाम संदिग्ध रहते हैं। यह ठीक है कि प्राचीन काल की कई व्यवस्थाएँ इन दिनों असामयिक हो गई है कि उनमें फेर बदल किये बिना कोई चारा नहीं, किंतु वह परिवर्तन भी किसी सुनिश्चित आधार एवं सिद्धांत के अनुरूप होना चाहिए। जिस परिवर्तन को मान्यता दे दी जाये फिर उसे तो उसी कड़ाई के साथ पालन करना चाहिए, जैसा कि परंपरावादियों का प्राचीन प्रचलनों पर जोर रहता है। यह अनुशासन एवं मर्यादा पालन ही अध्यात्म की भाषा में विश्वास कहा जाता है और उसका महत्त्व श्रद्धा के समतुल्य ही माना जाता है। कहा गया है कि श्रद्धा विश्वास के अभाव में धर्मानुष्ठान का महत्त्व उतना ही स्वल्प रह जाता है, जितना कि काम में हल्का-सा शारीरिक श्रम किया जाता है। शक्ति का स्रोत तो श्रद्धा एवं विश्वास ही हैं। इन्हीं दोनों को रामायणकार ने पार्वती और शिव की उपमा देते हुए कहा है कि इन दोनों के सहयोग से ही अंतरात्मा में विराजमान परमेश्वर का दर्शन संभव हो सकता है।

श्रद्धा का सहचर है—विश्वास। इसे निष्ठा भी कहते हैं। किसी तथ्य को स्वीकार करने के पूर्व उस पर परिपूर्ण विचार कर लिया जाये। तर्क प्रमाण, परामर्श, परीक्षण आदि के आधार पर तथ्य का पता लगा लिया जाये और समुचित मंथन के बाद किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाये। इसमें देर लगे तो लगने देनी चाहिए। उतावली में इतना अधूरा निष्कर्ष न अपना लिया जाये, जिससे किसी के तनिक से बहकावे मात्र से बदलने की बात सोची जाये। कई व्यक्ति विधि-विधानों के बारे में ऐसे ही अनिश्चित रहते हैं। एक के बाद दूसरे से पूछते फिरते हैं। फिर दूसरे का तीसरे और तीसरे का चौथे

से समाधान पूछते हैं। भारतीय धर्म का दुर्भाग्य ही है कि इसमें पग-पग पर मतभेद के पहाड़ खड़े पाये जा सकते हैं। यदि मतभेद और शंका-शंकाओं के जंजाल में उलझे रहा जाये तो उसका परिणाम मतिभ्रम, अश्रद्धा, अनिश्चितता एवं आशंका से मनःक्षेत्र भर जाने के अतिरिक्त और कुछ भी न होगा। ऐसी मनःस्थिति में किये गये धर्मानुष्ठानों का परिणाम नहीं के बराबर ही होता है। श्रद्धा-विश्वास का प्राण ही निकल गया तो फिर मात्र कर्मकांड की लाश लादे फिरने से कोई प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा।

विश्वास का तात्पर्य है जिस तथ्य को मान्यता देना—उस पर दृढ़ता के साथ आरूढ़ रहना। इस दृढ़ता का परिचय उपासनात्मक विधि-विधानों की जो मर्यादा निश्चित कर ली गई है, उसे बिना आलस्य-उपेक्षा बरते पूरी तत्परता के साथ अपनाये रहने में मिलता है। विधि-विधानों के पालन करने के लिए शास्त्रों में बहुत जोर दिया गया है और उसकी उपेक्षा करने पर साधन के निष्फल जाने अथवा हानि होने, निराशा हाथ लगने का भय दिखाया गया है। उसका मूल उद्देश्य इतना ही है कि विधानों के पालन करने में दृढ़ता की नीति अपनाई जाए। हानि होने का भय दिखाने में इतना ही तथ्य है कि अभीष्ट सत्परिणाम नहीं मिलता। अन्यथा सत्प्रयोजन में कोई त्रुटि रह जाने पर भी अनर्थ की आशंका करने का तो कोई कारण है ही नहीं।

साधना मार्ग पर चलने वाले को अपनी स्थिति के अनुरूप विधि-व्यवस्था का निर्धारण आरंभ में ही कर लेना चाहिए। जो निश्चित हो जाये, उसमें आलस्य-उपेक्षा बरतने की ढील-पोल न दिखाई जाये। दृढ़ता न बरती जायेगी तो आस्था में शिथिलता आने लगेगी। तत्परता मंद पड़ जायेगी, फलतः मिलने वाला उत्साह और प्रकाश भी धूमिल हो जायेगा।

उपासना के माध्यम से मनोनिग्रह के द्वारा एकाग्रता की शक्ति का उदय और ईश्वर सान्निध्य का लाभ मिलता है। आत्मिक प्रगति के लिए उन दोनों ही उपार्जनों की आवश्यकता है। मन ईश्वर के समीप बैठने के लिए सहमत हो इसके लिए

उस संदर्भ में श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। उपासना के सत्परिणामों पर जितना अधिक स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन, अवगाहन किया जायेगा उतनी ही श्रद्धा और अभिरुचि बढ़ेगी। इन उपचारों को भी जप-ध्यान की ही तरह आवश्यक माना जाना चाहिए। यह योग पक्ष है।

उपासना का दूसरा पक्ष है—तप। तप का अर्थ है—संयम, निग्रह, अनुशासन, प्रशिक्षण। उच्छृंखलता को निरस्त करके श्रेष्ठता की दिशा में मनोभूमि को बलपूर्वक घसीट ले चलने के लिए जो कड़ाई की जाती है, उसी को तपश्चर्या कहते हैं। बच्चों को सुसंस्कृत बनाने के लिए एक आँख प्यार की, दूसरी सुधार की रखने की रीति अपनानी पड़ती है। मन को भी योग से प्यार और तप से सुधार की शिक्षा दी जाती है। दोनों ही अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। इन दोनों के ही समन्वय से दोनों पहिये सही होने पर ठीक तरह चलने वाली गाड़ी की तरह आत्मिक प्रगति की गतिशीलता सुव्यवस्थित बनती और सुचारु रूप से चलती रहती है।

आरंभिक साधक को उपासना संबंधी न्यूनतम नियमों का निर्धारण करना होता है। प्रतिदिन किस समय, कितनी देर तक साधना की जानी है, इसका निर्णय करना होता है। साथ ही यह निश्चय करना पड़ता है कि बिना अनिवार्य कारण आये उस समय की उपेक्षा न की जायेगी-उसमें आलस्य और प्रमाद को बाधक नहीं बनने दिया जायगा। ऐसे सुदृढ़ निश्चय को संकल्प कहते हैं। साधना की सफलता में संकल्प आवश्यक माना गया है। संकल्प प्रायः सभी धर्मानुष्ठानों में जुड़ा रहता है, उसे विधान का आवश्यक अंग माना जाता है। संकल्प का अर्थ जो निश्चय किया गया है, उसे पूरा करने का मानसिक निश्चय एवं संबद्ध लोगों को उस निश्चय का परिचय। इस घोषणा का उद्देश्य है, निर्धारित कार्य को पूरा करने की बात को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेना। उसे पूरा न कर सकने पर अपनी अप्रतिष्ठा अनुभव करना।

आरंभ भले ही न्यूनतम पंद्रह मिनट का किया जाय, पर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि उसके निर्वाह में किसी को भी बाधक

नहीं होने दिया जायेगा। वस्तुतः कोई और होता भी नहीं। मात्र मन की अरुचि ही सबसे बड़ी बाधा होती है। इसे दूर करने के लिए कठोरता का अंकुश लगाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। देखा गया है कि भावावेश में दस-पाँच दिन उपासना का आरंभिक उत्साह चलता है और फिर तत्काल कोई बड़ा चमत्कार न मिलने से ऊब आने लगती है। उपेक्षा आरंभ होती है, आलस्य चढ़ता है और किसी छोटे-से बहाने की आड़ में वह क्रम समाप्त कर दिया जाता है। यह स्थिति हर साधक के सामने आती है। उसका सामना करने की मोर्चा-बंदी पहले से ही कर ली जानी चाहिए। संकल्प को हर हालत में पूरा करने का निश्चय करके चलना चाहिए। मन न लगने की कठिनाई आकर ही रहेगी, इस तथ्य को पहले से ही स्मरण रखना चाहिए।

नियत समय का पालन करने के लिए अलार्म घड़ी से सहायता ली जा सकती है। उसे मिलिट्री के बिगुल के समतुल्य माना जाये, जिसके बजते ही सभी सैनिक तत्काल नियत स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं। समय का पालन हर काम के लिए किया जाना चाहिए। प्रगतिशीलता का यह प्रमुख चिह्न है। उसमें आलस्य को बाधक नहीं बनने देना चाहिए। आलसी स्वभाव समय को जैसे-तैसे गुजारने की बहानेबाजी करता रहता है। उसे न चलने देने में अपने शौर्य-साहस का, उत्साह और संकल्प का परिचय देना चाहिए। मन की विचित्रता एवं विशेषता यह है, वह कुछ ही दिन के अभ्यास से भले या बुरे ढाँचे में ढल जाता है। उसी का अभ्यस्त हो जाता है। नियत समय पर उपासना के लिए तैयार होने में आरंभ के कुछ ही दिन अनभ्यस्त आलस्य के कारण बाधा पड़ेगी। यदि उसकी अवहेलना प्रताड़ना की जाती रहे और कड़ाई के साथ अनुशासन बरतकर उसे यथा समय, यथास्थान बिठाया जा सके, तो खींचतान बहुत दिन न चलेगी। लगातार दबाव पड़ते रहने पर आदत उसी प्रकार की पड़ जायेगी और फिर नियत समय पर न बैठना भी कष्टकारक लगने लगेगा।

कभी-कभी कोई अनिवार्य कारण ऐसे भी आ सकते हैं, जिनसे नियत समय पर बैठना संभव न हो सके। ऐसी दशा में यह व्रत

पालन किया जाना चाहिए कि भोजन से अथवा सोने से पूर्व उस संकल्प-साधना को अवश्य पूरा कर लिया जायेगा। प्रातः छह बजे संकल्पित साधना न हो सकी तो दोपहर को भोजन के समय तक उसे पूरा कर लेना चाहिए। भोजन के लिए आखिर कभी तो समय निकलेगा ही। उसे पंद्रह मिनट और भी पीछे खिसकाया जा सकता है। पूरे विधान से साधना न बन पड़े तो मानसिक जप के रूप में उसे पूरा किया जा सकता है। भोजन के समय भी न बन पड़े तो रात्रि को सोने से पूर्व उसे कर लेने के नियम में तो कोई कठिनाई हो ही नहीं सकती। भोजन में अन्य लोगों के साथ रहने की अड़चन रह सकती है, पर सोते समय तो वैसे भी कोई अड़चन नहीं होती। सोने का समय उतनी देर और खिसकाया जा सकता है, जितनी देर कि नित्य नियम की उपासना पूरी करनी है। भोजन का विलंब या सोने का विलंब उतना नहीं अखरना चाहिए जितना कि उपासना क्रम का परित्याग। यदि संकल्प श्रद्धा युक्त हो और उपासना को बेगार भुगतान न मानकर आत्मिक आवश्यकता माना गया हो, तो उसे प्राथमिकता देने में तनिक भी असुविधा न होगी। उपेक्षा तो उसकी होती है, जो निरर्थक माना जाये। भजन के संबंध में यदि अंतःश्रद्धा जम नहीं सकी है और उसे लादी हुई बेगार माना गया है तो ही उपेक्षा करने के लिए जी होगा। जी की कच्चाई से ही समय टलता है और फुरसत न मिलने का उपहासास्पद बहाना बनकर खड़ा हो जाता है।

यदि कोई दिन सचमुच ही वैसा आ जाय, जिसमें उपासना संभव न हो सके तो दूसरे दिन उसकी पूर्ति करने के लिए दूना समय लगाया जाना चाहिए। हो सके तो इसमें पाँच मिनट प्रायश्चित्य 'पेनल्टी' या ब्याज के रूप में और भी जोड़ देना चाहिए।

उपासना को अनिवार्य नित्य कर्म में सम्मिलित कर लेने और उसका कड़ाई के साथ निर्वाह कर लेने पर मन की आदत बदल जाती है। तब वह उचटना बंद कर देता है और इसी में रस लेने लगता है। ध्यान लगा या नहीं, यह प्रश्न बहुत पीछे का है। पहली बात तो इतनी ही है कि उसे आवश्यक कृत्य मानकर दिनचर्या में

सम्मिलित किया गया या नहीं ? मन की स्वीकृति इस प्रथम चरण में मिल सके तो समझना चाहिए कि उपासना में मन लगने की आधी समस्या हल हो गई।

मनोनिग्रह का प्रथम चरण इतना ही है कि वह उपासना के प्रति विद्रोह करना बंद कर दे। नियत समय पर बैठने में अड़चन न उत्पन्न करे और जितनी देर भजन करना है उतना काल शांतिपूर्वक व्यतीत हो जाने दे। ऊब उत्पन्न न करे। भाग चलने और छोड़ बैठने के लिए विद्रोह न करे। उसके विद्रोही स्वर शिथिल हो जायें। सहन करने और समन्वय बना लेने में बाधा न डाले तो समझना चाहिए आशाजनक स्थिति बन गई। भले ही वह इस बीच इधर उधर भटकता रहे और उपासना क्रम मंत्रोच्चार एवं विधि विधान तक ही सीमित बना रहे तो भी काम चल जायेगा। सहज, समन्वय की स्थिति यदि मन ने स्वीकार कर ली है तो फिर सहमति और सहयोग का सिलसिला चल पड़ने में भी देर न लगेगी।

मन के ऊपर कड़ाई से नियंत्रण करने और अनुशासन स्थापित करने में संकल्प शक्ति जगाने की आवश्यकता पड़ती है। निश्चय और निर्धारण करना पड़ता है। घोषणा को पूरा करना प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाना पड़ता है। इसमें जितनी सफलता मिलती चलती है, उतना ही संकल्प बल बढ़ता है। आत्मानुशासन रख सकने की क्षमता पर विश्वास होता है। छोटे-छोटे संकल्प करते चलना और उन्हें पूरा कर सकने की क्षमता का परिचय देना, यही है आत्म बल बढ़ाने का क्रमिक उपाय। आत्म विश्वास ही परिपक्व होकर आत्मबल बन जाता है। आत्मबल की महिमा धन, बल, बुद्धिबल, बाहुबल, कौशल बल, साधन बल आदि सभी से बढ़कर है। उसके सहारे भौतिक और आत्मिक सफलताओं के अवसर पग-पग पर मिलते चले जाते हैं।

● तपनिष्ठा और योग बुद्धि जगाएँ

गर्मी से दृढ़ता आती है, यह तथ्य सर्व विदित है। कच्ची मिट्टी मुलायम होती है, किंतु उसके बने बर्तन आवे में पका दिये

जायें—वे धातु निर्मित पात्रों का काम देने लगते हैं। कच्ची ईंटों के बने मकान आये दिन टूटते-फूटते रहते हैं किंतु भट्टे में पकी ईंटें पत्थर जैसी मजबूत हो जाती हैं। खदान से निकलते समय धातुएँ मिट्टी मिली होती हैं। आग में पकाने के बाद वे शुद्ध होती हैं और असली रूप में प्रकट होती हैं। लोहे को फौलाद, स्टेनलेस, स्टील, लौहभस्म आदि बनाने के लिए बार-बार तपाना ही एकमात्र उपाय है। आभूषण औजार आदि के रूप में परिणत होने के लिए धातुओं को गलाने जितने स्तर का तापमान सहना पड़ता है। सोने को खरा घोषित करने के लिए तपाया जाना ही प्रमुख कसौटी है।

पानी को भाप बनाने में, दो लोहे के टुकड़ों को आपस में जोड़ देने में गर्मी की ही भूमिका रहती है। सुस्वादु और सुपाच्य भोजन का निर्माण चूल्हे पर चढ़ाये जाने पर ही होता है। मशीनों के चलाने के लिए आवश्यक ऊर्जा अग्नि के सहारे ही उत्पन्न होती है। सूरज तपता है तो पृथ्वी, ग्रह पर हलचलें होती हैं। शरीर में जब तक गर्मी है, तभी तक जीवन है। अग्नि की, गर्मी की क्षमता सर्वत्र देखी जा सकती है। वस्तुतः गर्मी ही जीवन है। अंडा हो अथवा भ्रूण उसे माता अपने शरीर की गर्मी देकर ही पकाती है। वनस्पतियों का उगना और फलना-फूलना गर्मी पर भी निर्भर है। ठंडक की ऋतु में सब कुछ ठप्प हो जाता है। हरे-भरे पेड़ तक पत्ते गिरने में ठूंठ जैसा बन जाते हैं। सर्दी में दिन ही नहीं सिकुड़ता—हर प्रक्रिया पर शिथिलता छाई दीखती है।

भौतिक प्रगति में चेतना की गर्मी ही उत्पादन और विकास की परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। उत्साह, स्फूर्ति, साहस, उमंग, जीवट, श्रमशीलता जैसे गुणों में आंतरिक उष्णता ही काम करती है। ओजस्, तेजस् और वर्चस् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में उभरने वाली ऊर्जा ही तो है। मनस्वी, तेजस्वी और तपस्वी अपनी भीतरी प्रखरता का परिचय देते हैं। यह ऊष्मा जब कम पड़ती है तो मनुष्य आलसी, निराश, उदास, भयभीत बन जाता है। ऐसे ही साहस रहित व्यक्ति को कायर, क्लीव आदि शब्दों से तिरष्कृत

किया जाता है। उन्हें पिछड़ेपन की दयनीय उपहासास्पद परिस्थितियों में दिन गुजारने पड़ते हैं।

प्रगति के लिए तपश्चर्या का पुरुषार्थ करना पड़ता है। भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों में यह तथ्य एक जैसा काम करता है और प्रगति में सफल हुए प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट श्रम करना पड़ता है। किसान, मजदूर, विद्यार्थी, सैनिक, पहलवान, कलाकार, व्यवसायी, शिल्पी आदि सभी की सफलताएँ उनके प्रयत्न, पुरुषार्थ, श्रम, साहस पर निर्भर रहती हैं, इस प्रयत्न परायणता को एक प्रकार से भौतिक तपश्चर्या ही कहना चाहिए। जो इससे कतराते हैं वे दरिद्रता, दुर्बलता, अशिक्षा, उपेक्षा, शोषण आदि के शिकार होते और पग-पग पर आक्रमणों का, अभावों का, असफलताओं का दुःख भोगते हैं।

आत्मिक जीवन में भी यही बात है। उस क्षेत्र की प्रगति पूरी तरह तथ्य पर निर्भर है कि साधक में तपश्चर्या की साहसिकता किस मात्रा तक प्रचंड हो सकी। उपासना और साधना का तात्त्विक पर्यवेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि अध्यात्म विज्ञान का सारा ढाँचा ही यह प्रेरणा देता है कि प्रगति के लिए आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न की जाये। ऊपर उठने के लिए, आगे उठने के लिए इस संसार में सर्वत्र ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। वायुयान या राकेट आकाश में फेंकने हों अथवा क्रेन से वजन को ऊपर उठाना हो, हर हालत में ऊर्जा की आवश्यकता पड़ेगी। पानी ऊपर से नीचे की ओर तो सहज ही गिर सकता है, पर उसे कुँए से ऊपर खींचना हो तो साधन और सामर्थ्य दोनों को ही जुटाना पड़ता है। व्यक्तित्व को—अंतःचेतना को ऊपर उठाने के लिए भी तपश्चर्या से उत्पन्न ऊर्जा के बिना काम नहीं चल सकता है। पैदल चलने को शरीर में शक्ति चाहिए। मोटर चलानी हो तो भी शक्ति की व्यवस्था जुटानी होती है। जीवन को ऊँचा उठाना हो, आगे बढ़ना हो तो समर्थता उत्पन्न करनी होगी।

सामर्थ्य आसमान से नहीं टपकती और न उधार उपहार में किसी को मिलती है। उसे निजी प्रयत्न पुरुषार्थ से ही उपार्जित

करना पड़ता है। देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करने पर भी याचना मात्र से कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता। भिक्षुकों को भी उनकी प्रार्थना के आधार पर नहीं, पात्रता के आधार पर ही अनुदान मिलते हैं। अपंगों को देखकर दया उपजती है और उन्हें उदारतापूर्वक दिया जाता है। सत्कर्म परायण संतों को भी श्रद्धापूर्वक कुछ दिया जाता है। इसके विपरीत निकम्मे लोगों की याचना प्रायः ठुकरा ही दी जाती है। समर्थ भिखमंगों को जितना मिलता है, इससे कहीं अधिक भर्त्सना उन्हें सहनी पड़ती है। याचना किन शब्दों में, कितनी देर की गई—दानी उस पर ध्यान नहीं देते, देने की उमंग याचक की पात्रता पर ही निर्भर रहती है। देवताओं की यही परंपरा है। मनोकामनाएँ पूरी करने के लिए जिस-तिस आडंबर के सहारे उन्हें फुसला लेना अति दुष्कर है। इस आधार पर आत्मिक प्रगति के सपने देखने वाले, देवताओं के आगे गिड़गिड़ाते रहने वाले प्रायः निराश असफल ही रहते देखे गये हैं।

आत्मिक प्रगति की दिशा में अभीष्ट सफलताएँ प्राप्त करने वालों का इतिहास आदि से अंत तक एक ही तथ्य प्रमाणित करता है कि उन्होंने आवश्यक तपश्चर्या करके अपनी पात्रता विकसित की फलतः उन्हें विभूतियों, सिद्धियों से लाभान्वित होने का अवसर मिला। महामानवों से लेकर ऋषि-महर्षियों तक की सफलताएँ पूर्णतया उनकी तप साधना पर निर्भर रही है। मंत्राराधन जादूगरी नहीं है। उसके पीछे प्रचंड तपश्चर्या की शक्ति ही चमत्कार प्रस्तुत करती है।

यथार्थता यह है कि भौतिक क्षेत्र की तरह ही आत्मिक क्षेत्र में भी आत्मपरिष्कार के लिए प्रबल पुरुषार्थ करने पड़ते हैं। उन्हीं के आधार पर वह क्षमता विकसित होती है, जो अंतर्जगत् की प्रस्तुत दिव्य क्षमताओं को जगाकर किसी को विभूतिवान् बना सके। इसी आधार पर दैवी अनुग्रह भी आकर्षित किये जाते हैं। वृक्षों का चुंबकत्व बादलों को अपनी ओर खींचता है और उन्हें पानी बरसाने के लिए विवश करता है। धातुओं की खदानें भी इसी आधार पर बनती और बढ़ती हैं कि जमा हुआ धातु भंडार अपनी आकर्षण

क्षमता से दूर-दूर तक फैले हुए सजातीय कणों को खींचता रहता है और उनके खिंच-खिंचकर जमा होते रहने से खदान का आकार-भंडार बढ़ता रहता है। फूल खिलता है तो भौंरे प्रशंसा करने, मधुमक्खी याचना करने और तितली शोभा बढ़ाने के लिए अनायास ही जा पहुँचती हैं। अच्छे डिवीजन से पास छात्रों को उच्च कक्षाओं में प्रवेश पाने तथा छात्रवृत्ति मिलने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। प्रतिभावानों को उनकी योग्यता के अनुरूप, पद, धन और मान अनायास ही मिलता जाता है। यही बात सिद्धांततः आत्मिक प्रगति की दिशा में अक्षरशः लागू होती है। साधक की पात्रता का विकास जिस अनुपात से होता है, उसी क्रम में उसका वर्चस्व बढ़ता चला जाता है। इन दिव्य उपलब्धियों का उद्गम अंतःक्षेत्र में भी है और व्यापक ब्रह्म सत्ता से भी अजस्र अनुग्रह बरसते हैं। दोनों ही क्षेत्रों की उपलब्धियों से साधक निहाल होता है। इतने पर भी मूल तत्त्व जहाँ का तहाँ है। जो पाना है उसका मूल्य चुकाया जाना चाहिए। बिना मूल्य चुकाए तो इस संसार में कुछ भी मिलने का नियम नहीं है। जो पाया है, जो पाना है—उसका मूल्य पहले या पीछे चुकाने की बात को किसी भी प्रकार झुठलाया नहीं जा सकता।

मूल्य देकर खरीदने का सिद्धांत ही सही और सनातन है। घटिया चीजें स्वल्प मूल्य में और बढ़िया वस्तुएँ महँगे दाम पर खरीदी जाती हैं। असली हीरा हजारों में और नकली थोड़े-से पैसों में बिकता है। मूल्य के अनुरूप ही उनका महत्त्व और सम्मान है। जीवित दुधारू गाय बहुत दाम की आती है, किंतु मिट्टी की छोटी सी गाय कम पैसे में मिल सकती है। सस्ते और महँगे का अंतर स्पष्ट है। जीवित गाय, दूध, बछड़ा, गोबर आदि बहुत कुछ देती है, किंतु खिलौना गाय से मात्र मनोरंजन ही हो सकता है। सस्ती पूजा पत्री से जिन सिद्धियों की अपेक्षा की जाती है, वे यदि किसी को मिल भी सकें, तो नकली ही होंगी। उनसे तरह-तरह के ध्यान दृश्य दीखने जैसे कौतुक कौतूहल मात्र ही संभव हो सकते हैं। उतने भर से आत्म कल्याण की अथवा दूसरों की सहायता कर सकने जैसी अध्यात्म क्षमता किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकती।

भौतिक जगत् में पुरुषार्थ और उसके प्रतिफल का—कर्म और भाग्य का सिद्धांत पग-पग पर चरितार्थ होता है। पुरुषार्थी सफलता पाते और शेखचिल्ली कल्पनाओं के पंख लगाकर उड़ते रहते हैं। आत्मिक क्षेत्र का पुरुषार्थ तपश्चर्या है। याचना की तिरछी तरकीबें नहीं। यदि पुरुषार्थ की, पात्रता की, शर्त न रही होती तो हर याचना करने वाले की मनोकामनाएँ सहज ही पूरी होते रहने की परंपरा पाई जाती। तब किसी को पुरुषार्थ की कष्टसाध्य प्रक्रिया अपनाने की तनिक भी आवश्यकता न होती।

तथ्यों को समझा जा सके तो बहुमूल्य आत्मिक विभूतियों को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त पुरुषार्थ करने का सिद्धांत भी सहज ही समझ में आ जायेगा। आत्मिक पुरुषार्थ का नाम तपश्चर्या है, इसी मार्ग पर चलते हुए प्राचीनकाल के महान् आत्मवेत्ता उच्चस्तरीय सफलताएँ प्राप्त कर सकने में सफल हुए हैं। भागीरथ का गंगावतरण—पार्वती का शिव वरण तप-साधना से ही संभव हो सका था। तपस्वी दधीचि की अस्थियों से ही व्यापक असुर साम्राज्य को ध्वस्त करने वाला वज्र बना। ध्रुव को परम पद तप से ही मिला। सप्त ऋषियों को उच्चस्तरीय गरिमा इसी आधार पर प्राप्त हुई। विश्वामित्र ने इसी शक्ति के आधार पर नई दुनिया बनाने का साहस किया था। परशुराम का तप ही उनके कुठार के रूप में संसार भर के अनाचार से लड़ सकने की क्षमता बनकर प्रकट हुआ था। शृंगी ऋषि के तप बल से ही उनकी मंत्र शक्ति इतनी समर्थ हो सकी कि उनके आचार्यत्व में किया गया दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ सार्थक हो सका। मध्यकाल में भी भगवान् बुद्ध से लेकर योगी अरविंद तक की परंपरा में तपश्चर्या ही प्रधान रही है।

असुर वर्ग की क्षमताएँ भी तपश्चर्या के आधार पर ही उभरी थीं। पुराण साक्षी है कि हिरण्यकश्यपु, रावण, कुंभकरण, मेघनाद, मारीच, वृत्तासुर, भस्मासुर, सहस्त्रबाहु असुरों ने प्रचंड सामर्थ्य तप के बल पर ही प्राप्त की थी। गृहस्थ जीवन में रहते हुए कितने ही नर-नारी तप साधना के सहारे उच्चस्तरीय आत्मशक्ति का संपादन कर सके हैं। गांधारी ने नेत्र शक्ति, संजय की दिव्य दृष्टि, कुंती की

देव संतान, सुकन्या का पति की वृद्धता निवारण, सावित्री का यम से संघर्ष, अनुसुइया द्वारा तीन देवों को बाल स्वरूप जैसे घटनाक्रमों में तप की क्षमता ही उभरती हुई दिखाई पड़ती है। लोक हित के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने वाले महामानवों में विलक्षण क्षमता का विकास साधना शक्ति के सहारे ही हो सका था। चाणक्य, समर्थ रामदास, गुरु नानक, ज्ञानेश्वर, शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस आदि के द्वारा लोक हित के जो महत्त्वपूर्ण काम बन पड़े, उसमें उनके तपस्वी जीवन की गरिमा प्रकट होती है। तप साधना के स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकने पर उन सब में व्यक्तित्व को पवित्र परिष्कृत, प्रखर बनाने वाली कष्टसाध्य जीवनयापन-प्रक्रिया का समावेश तो निश्चित रूप में ही रहेगा। सरलतापूर्वक, स्वल्प श्रम में पूजा-पाठ करके ईश्वर अनुग्रह और आत्मोत्कर्ष का लाभ किसी को भी नहीं मिल सका है। भगवत् शक्ति भावुकता मात्र नहीं है। जीवनयापन की रीति-नीति में आदर्शवादिता के लिए कष्ट सहन करने की नीति का समावेश किये बिना उपासना का मूल प्रयोजन पूरा ही नहीं होता। जहाँ वास्तविकता न होगी, वहाँ प्रखर प्रतिफल भी कहाँ से प्राप्त होगा ? संपन्नता, विद्वता, बलिष्ठता, प्रतिभा कलाकारिता, जैसी भौतिक संपदाएँ प्राप्त करने के लिए जब पुरुषार्थ करना पड़ता है, तो इन सबसे अत्यधिक मूल्यवान् आत्मिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए तप साधना से बचकर कोई सस्ती सरल पगडंडी कैसे निकल सकती है। आत्मिक प्रगति का राजमार्ग तपश्चर्या के बल बूते पर ही पार किया जाता है।

● गृह त्याग आवश्यक नहीं

आवश्यक नहीं कि हर किसी को घर छोड़कर वनवास में रहने या कठोर कष्टसाध्य उपचारों को ही अपनाना अनिवार्य हो। विशिष्ट उद्देश्यों के लिए—विशिष्ट व्यक्तियों के लिए वैसी कठोरता अपना सकना संभव होता है। इसके लिए संचित संस्कारों की और प्रचंड संकल्प शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह उच्चतम स्थिति है। आरंभ छोटे से ही होता है। हर स्थिति

का व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति में भी तप साधना के सिद्धांतों का न्यूनाधिक मात्रा में समावेश कर सकता है और उतने से भी आनुपातिक लाभ उठाता रह सकता है।

तप का तात्पर्य है—गर्मी उत्पन्न करना। गर्मी रगड़ से उत्पन्न होती है। घर्षण ही ऊर्जा उत्पादन का स्रोत है। बिजली बनने से लेकर आग जलने तक समस्त प्रकार के ऊर्जा उत्पादनों का स्रोत घर्षण ही है। श्वास-प्रश्वास क्रिया की प्रतिक्रिया ही शरीर को जीवित रखने वाली गर्मी बनाये रहती है। तप का तात्पर्य है—पशु प्रवृत्तियों के विरुद्ध दैवी प्रकृति का टकराव उत्पन्न कर देना। इसी संघर्ष से अध्यात्म क्षेत्र की वह ऊर्जा उत्पन्न होती है, जिसे तप शक्ति के नाम से जाना जाता है। महान् आध्यात्मिक प्रयोजन इसी शक्ति के सहारे संपन्न होते हैं। समुद्र-मंथन से चौदह रत्न निकलने की कथा प्रसिद्ध है। जीवन-मंथन से भी इसी प्रकार का विभूति उत्पादन होता है।

पशु-प्रवृत्तियों का निराकरण और उनके स्थान पर दैवी सत्प्रवृत्तियों का प्रतिष्ठापन। यही है उपासना का, साधना का, योग साधना का, तपश्चर्या का एकमात्र उद्देश्य। आध्यात्मिक क्षेत्र की समस्त सफलताएँ एक इसी केंद्र पर केंद्रीभूत है। सिद्धियों का उद्गम स्रोत यही है। इस क्षेत्र में जागृति एवं प्रगति उत्पन्न करने के लिए तपश्चर्या की जाती है।

नरक से निकालकर स्वर्ग में पहुँचाने की क्षमता एकमात्र तपश्चर्या में ही है। इसलिए मदालसा ने अपने सभी पुत्रों को तपस्वी बनाया था। विनोबा की माता भी अपने तीनों बालकों को ब्रह्मज्ञानी बनाकर अपने परिवार को देवोपम सम्मान दिला गई। तप से स्वर्ग मिलता है। इस तथ्य के समर्थन में असंख्यों शास्त्र वचन और पौराणिक उपाख्यान उपलब्ध हैं। महामानवों की समूची विरादरी वस्तुतः तपस्वियों की ही देव सेना है। उनमें से प्रत्येक ने अपनी पशु-प्रवृत्तियों के साथ दैवी आदर्शवादिता का संघर्ष कराया है। सामान्य लोगों पर स्वार्थांधता, भोग-लालसा और वासना-तृष्णा ही छाई रहती है, जबकि महामानव दैवी परंपराओं को इस प्रखरता के साथ अपनाते हैं कि उसके सम्मुख पशुता को परास्त होते और पलायन करते ही

देखा जा सके। स्वार्थ-परमार्थ के संघर्ष में कौन विजयी होता है ? पशु और देवता में से कौन जीतता है ? उसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि मानवी आकांक्षा और श्रमशीलता अपना समर्थन और योगदान किस पक्ष को प्रदान करती है ? इस संदर्भ में आंतरिक महाभारत होना निश्चित है। उस धर्मयुद्ध में जिसको जितना शौर्य-साहस एवं त्याग-बलिदान प्रस्तुत करना पड़े। उसे उसी स्तर का तपस्वी कहा जा सकता है। जिससे जितनी शक्ति एकत्रित कर ली, समझना चाहिए आत्मिक प्रगति का—अपूर्णता को पूर्णता में परिणत करने का लक्ष्य उसके उतना ही समीप आ गया। तप ही आत्मा की सबसे बड़ी शक्ति है। उसी के आधार पर ब्रह्मा जी ने सृष्टि रची। उसी के सहारे शेष जी पृथ्वी को धारण करते हैं। इसी क्षमता को जो जितना उत्पन्न-उपलब्ध कर ले समझना चाहिए कि उसकी आंतरिक संपन्नता उसी स्तर तक समुन्नत हो गई।

आत्मिक प्रगति का जिनने महत्त्व समझा हो, उन्हें उस उपलब्धि का उचित मूल्य चुकाने का भी साहस उत्पन्न करना चाहिए। सिद्धियाँ सदा ही पुरुषार्थियों को प्राप्त होती रही हैं। विजय श्री शूरवीरों के ही हिस्से में आई है। आध्यात्मिक क्षेत्र का शौर्य साहस, पौरुष-पराक्रम तप साधना के रूप में ही जाना जाता है। यहाँ एक बात पूरी तरह स्मरण रखी जानी चाहिए कि अकारण काय कष्ट देने को नहीं—उच्चस्तरीय आदर्शों के परिपालन में शारीरिक और मानसिक कष्ट सहना आवश्यक है, इसी को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करना तप साधन कहलाता है।

● प्रभु के साझेदार बनें

पृथ्वी और सूर्य की साझेदारी से ही अपने संसार की गतिविधियाँ चल रही हैं। शरीर और चेतना का पारस्परिक सहयोग ही जीवन है। नर-नारी की सघनता से गृहस्थ बनता है। यह साझेदारी यदि परमात्मा के साथ स्थापित कर सकने के लिए कोई बुद्धिमान् व्यक्ति साहस कर सके तो समझना चाहिए कि उसके जीवन व्यवसाय में असीम लाभ मिलने की व्यवस्था बन गई।

सुयोग्य, सफल और समर्थ लोगों के साथ मिल-जुलकर रहने में बुद्धिमानी ही बुद्धिमानी है। चंदन के समीप उगने वाले अन्य पौधे भी सुगंधित हो जाते हैं। पारस और लोहे के स्पर्श से सोना बनने की बात प्रसिद्ध है। सत्संग की महिमा इतनी बढ़ी चढ़ी हो तो सघन समन्वय की महिमा उससे भी अधिक क्यों न होगी। ईश्वर निश्चित रूप में इस योग्य है कि उसके साथ बिना आगा-पीछा सोचे जीवन व्यवसाय में साझेदारी की जा सकती है। इसमें ऐसा कोई जोखिम नहीं है, जिसके लिए आरंभ से असमंजस और अंत में पश्चात्ताप करने की आवश्यकता पड़े।

भिक्षुक एकांगी होता है, याचना से उसका स्तर गिरता है और तिरस्कारपूर्वक थोड़ा-सा ही मिलता है। किंतु मित्र, साथी, उत्तराधिकारी अथवा भागीदार की स्थिति दूसरी ही होती है। वह अधिकार और सम्मानपूर्वक अपने लिए उपयुक्त सुविधा प्राप्त कर लेता है, किंतु स्मरण रहे साझेदारी के कुछ सिद्धांत हैं। न्याय और नीति अपनाये रहने पर ही वह साझेदारी चलती है।

जीवन व्यवसाय में शरीर और आत्मा दोनों की ही साझेदारी है। इस कारखाने को चलने में दोनों की ही पूँजी और मेहनत लगती है। अस्तु आत्मा का भाग अधिक और शरीर का कम है। शरीर जड़ है। उसे मात्र औजार उपकरण, बाह्य सेवक की संज्ञा मिल सकती है। वह मशीन की तरह कार्य करता है। जीवन का सारा कारखाना आत्मा की चेतना और क्षमता-पूँजी के सहारे चल रहा है। वह हाथ हटा ले तो काया में तत्काल सड़न आरंभ हो जायेगी और जल्दी से जल्दी गाड़ने, जलाने, बहाने आदि का प्रबंध करना होगा। व्यक्तित्व गरिमा काया पर नहीं, चेतना के स्तर पर अवलंबित है। अस्तु महत्त्व भी उसी का अधिक है। ऐसी दशा में उपार्जन के लाभ का बड़ा अंश भी उसी को मिलना चाहिए।

पर होता ठीक उल्टा है। शरीर सब कुछ हड़प जाता है और आत्मा की आवश्यकता पूर्णतया उपेक्षित ही बनी रहती है। उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। पेट और प्रजनन की दोनों ही आवश्यकताएँ शरीर की हैं। वासना की तृप्ति इंद्रियाँ चाहती हैं। मन

मस्तिष्क की ग्यारहवीं इंद्रियाँ शरीर का एक अवयव हैं। इसकी भूख लोभ-मोह की तृष्णा और अहंता की पूर्ति माँगती है। शरीर और मन की कितनी ही आवश्यकताएँ परिवार से पूरी होती हैं। इसलिए वह परिवार भी शरीर के विस्तार क्षेत्र में ही सम्मिलित है।

असंख्य योनियों में परिभ्रमण करने के उपरांत मनुष्य जन्म का सुर दुर्लभ अवसर मिलता है। इसका प्रयोजन एक ही है कि अपूर्णता को पूर्णता में परिणत किया जाये। भव-बंधनों से छुटकारा पाया जाये। अगली कक्षा देवत्व को उपलब्ध किया जाये। ईश्वरीय भंडार की सबसे बड़ी संपदा मानवी काया है। इससे बढ़कर और मूल्यवान् पदार्थ परमात्मा के भंडार में है ही नहीं। जो अन्य प्राणियों को नहीं मिली, उन विशेषताओं से संपन्न विभूतिवान् शरीर मौज करने के लिए नहीं वरन् धरोहर के लिए इस निमित्त दिया है कि उससे विश्व उद्यान को अधिक समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने में योगदान दिया जाये, हाथ बटाया जाये। इन प्रयोजनों की जितनी पूर्ति जीवन संपदा से हो सके समझना चाहिए, आत्मा को उतना ही लाभांश मिला। जितना पेट प्रजनन के लिए लग गया उतना शरीर की भागीदारी में चल गया माना जाय। देखते हैं कि इस दृष्टि से आत्मा को घाटा ही घाटा है। शरीर की लिप्साएँ पूरी करने के लिए अनेकों कुकृत्य तक करने पड़ते हैं। मरने पर शरीर तो शमशान में समाप्त हो जाता है, पर उन कुकर्मों का फल आत्मा को जन्म-जन्मांतरों तक दुर्गति सहने के रूप में भुगतना पड़ता है। बुद्धिमान् बनने वाला मनुष्य जीवन के स्वरूप, मूल्य, उद्देश्य और उत्तरदायित्व को समझने में कितना मूर्ख सिद्ध होता है ? इस विसंगति को देखते हुए भारी आश्चर्य होता है।

आत्म ज्ञान, आत्म बोध, आत्म साक्षात्कार उस जागृति को कहते हैं, जिसमें मनुष्य अपने स्वरूप और लक्ष्य को समझ सकने योग्य बन सके। जिस विवेक बुद्धि से आत्मा की स्थिति और प्रगति का निर्धारण कर सकना संभव होता है, उसे ऋतंभरा प्रज्ञा कहते हैं। मनुष्य जीवन के उपरांत ईश्वर का दूसरा अनुग्रह यही है, किंतु यह मिलता उसी को है जो आत्म कल्याण की महत्ता और आवश्यकता

समझता है, जिसे मोह-मदिरा की खुमारी छाई हुई है, उसके लिए न इस अनुकंपा की आवश्यकता है और न उपयोगिता। ऐसे कुपात्रों को ऋतंभरा प्रज्ञा का, गायत्री महा शक्ति का अनुग्रह-वरदान मिले भी तो कैसे ? ब्रह्मविद्या का प्रत्येक सोपान अपने आपको जानने, आत्म कल्याण में लगने की प्रेरणा देता है। इसका अर्थ है—शरीर का ही नहीं, आत्मा का भी महत्त्व समझा जाये और सब कुछ शरीर पर ही निछावर न किया जाये, कुछ तो आत्मा के लिए सोचा जाये।

बुद्धिमानी इसमें है कि जीवन में आत्मा और शरीर की साझेदारी को स्वीकार किया जाये और उपलब्धियों का विभाजन दोनों की आवश्यकता के अनुरूप किया जाये। शरीर की आवश्यकताएँ स्वल्प हैं, थोड़े समय में थोड़े परिश्रम से पेट भरने के साधन जुटाये जा सकते हैं। परिवार यदि सीमित रखा जाये। औसत भारतीय के स्तर तक उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने में संतोष रखा जाये, तो वह निर्वाह भी थोड़ा-सा समय और मनोयोग लगाने पर सहज ही पूरा होता रह सकता है। शरीर की आवश्यकताएँ यदि इतनी ही मान ली जाएँ। उनकी पूर्ति में संतोष कर लिया जाये तो फिर आत्मा की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त साधन बच सकते हैं। भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ सीमित किये बिना आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं हो सकती, यह एक सुनिश्चित तथ्य है।

आत्मा की आवश्यकता पूरी करने के लिए सुसंस्कार-संवर्धन के लिए प्रयत्न करने चाहिए। सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन से ही आत्मा की बल वृद्धि होती है। आत्म परिष्कार और आत्मिक प्रगति एक ही बात है। इसके लिए कुसंस्कारों का उन्मूलन एवं सुसंस्कारों का संस्थापन आवश्यक होता है। यह सफलता चार साधनाओं के सहारे मिलती है। जिन्हें साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के चार आत्म पुरुषार्थों के रूप में बताया गया है। इन चारों के लिए समय, श्रम और मनोयोग एवं संकल्प शक्ति का आवश्यक अंग लगे तो ही उनकी वास्तविक पूर्ति हो सकती है। चिह्न पूजा की लकीर पीटने भर से तो कुछ बनता नहीं है।

प्रभु समर्पित जीवन से परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। समर्पण बड़ी बात है। शरणागति में अपना कुछ बचता ही नहीं। सब कुछ उसका हो जाता है, जिसको समर्पण किया है। इसका स्वरूप समझना हो तो नाले का नदी में, ईंधन का आग में, पानी का दूध में, बूँद का समुद्र में, पतंगे का दीपक में, पति का पत्नी में विलय होते देखकर यह जानना चाहिए कि शरणागति की स्थिति में भक्त और भगवान् का एकत्व, अद्वैत किस स्तर का होता होगा। तब भक्त की अपनी कामना ही नहीं सत्ता भी समाप्त हो जाती है और काया पर, मन पर, अंतःकरण पर पूरी तरह इष्ट देव का ही अनुशासन छाया रहता है। इस स्थिति में पहुँचने पर भक्त भगवान् एक हो जाते हैं। दोनों की सत्ता में नाम मात्र का ही अंतर रह जाता है।

समय, श्रम की संपदा क्रिया रूप में और मन बुद्धि की विभूति चिंतन रूप में उपलब्ध है। इन दोनों का बँटवारा इस प्रकार किया जाये तो शरीर की ही तरह आत्मा को भी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में इनका लाभ मिलता रहे। समय २४ घंटे का होता है। इसमें सोने के लिए सात घंटे, आजीविका उपार्जन के लिए आठ घंटे, अन्य कार्यों के लिए पाँच घंटे; इस प्रकार बीस घंटे शरीर यात्रा के लिए लगाये जा सकते हैं। इतने घंटों को यदि आलस्य-प्रमाद में न गँवाकर, स्फूर्ति और उत्साह का समावेश करते हुए काम किया जाये तो सामान्य निर्वाह का शारीरिक और पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति का क्रम बहुत ही शांति, सरलता और सुव्यवस्था के साथ चलता रह सकता है। तृष्णा का तो कहीं अंत नहीं, लोभ और मोह की पूर्ति तो २४ घंटे से भी अधिक बड़ा दिन होने लगे और दिन रात उपार्जन-उपयोग में ही संलग्न रहा जाता रहे, तो भी पूर्ति नहीं हो सकती। औसत भारतीय स्तर का जीवन क्रम संतोषजनक मान लिया जाये तो इतने समय में सब कुछ भली प्रकार पूरा होता रह सकता है। शेष चार घंटे परमार्थ प्रयोजनों में भली प्रकार लगते रह सकते हैं। मन और बुद्धि का उपयोग सत्प्रयोजनों के लिए खाली घंटों में होता रहने में तो कुछ कठिनाई है ही नहीं। सामान्य काम काज करते समय भी चिंतन की उत्कृष्टता की परिधि में नियोजित किया जा

सकता है। कामुकता की, ईर्ष्या-द्वेष की, पाप और पतन की विचारणाओं एवं योजनाओं के लिए कोई अतिरिक्त समय नहीं लगाना पड़ता। सामान्य काम काज करते, फुरसत रहते, सोते-ऊँघते वह कल्पनाएँ मस्तिष्क में दौड़ती रहती हैं और उन्हीं क्षणों में वह सब कुछ परिपक्व हो जाता है, जो अवांछनीयता अपनाने के लिए आवश्यक है। अश्लील चिंतन के लिए कोई अतिरिक्त समय नहीं निकालना पड़ता। ठीक इसी प्रकार परमार्थ प्रयोजन के लिए निर्धारित चार घंटों के अतिरिक्त सामान्य काम काज के बीच भी मन बुद्धि से आत्म कल्याण की कल्पनाएँ करने और योजनाएँ बनाने का पर्याप्त अवसर मिल सकता है।

तीसरी संपदा है धन, इसके उपार्जन का भी शरीर और आत्मा के बीच न्यायोचित विभाजन होना चाहिए। जीवन में ईश्वर की हिस्सेदारी मानी जाये तो धन-वैभव का एक अंश भी उसके निमित्त अर्पण किया जाना चाहिए। यह अंश कितना हो, यह व्यक्ति की उदारता और परिस्थिति के ऊपर निर्भर है। यह फैसला अपने अंतःकरण को पंच मानकर निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह स्वतः ही करना चाहिए। यों होता तो यह रहा है कि सारी कमाई वासना-तृष्णा और अहंता की वेश्याएँ ही लुभा-फुसलाकर अपहरण करती रही हैं। आत्मा के पल्ले तो भूसी भी नहीं पड़ती है। उस पुराने अनियत अभ्यास को घटाने छोड़ने में हीला हुज्जत तो बहुत होगी। घर परिवार वालों से लेकर मित्र-हितैषी स्वजन संबंधी होने का दावा करने वालों तक की इस संबंध में एक स्वर से असहमति होगी कि ईश्वर के लिए आत्म कल्याण के लिए, परमार्थ के लिए भी कोई कहने लायक अंश निकाला जाये। वे नकली सुपाड़ी, नकली अगरबत्ती, अक्षत, रोली जैसे चार पैसों के अनुदान से अधिक कुछ त्याग करने के लिए सहमत नहीं हो सकते। अपनी संकीर्ण स्वार्थपरता से लेकर संबद्ध स्वजनों तक का सारा परिवार इस बात का विरोधी होगा कि जीवन संपदा में से श्रम, समय, मन, बुद्धि अथवा धन का, साधन का कोई महत्त्वपूर्ण अंश परमार्थ प्रयोजन के लिए लगाया जाये।

इस मोह परिवार का तो उल्टा दबाव यह रहता कि ईश्वर से किस बहाने अधिक भौतिक लाभ पाने का जुगाड़ बिठाया जाये। ऐसी दशा में ईश्वर के निमित्त साधनों की भागीदारी प्रस्तुत करने के लिए तथाकथित अपनों की सहमति प्राप्त कर सकना निश्चय ही टेढ़ी खीर है।

जो हो आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए हिमाच्छादित पर्वत शिखर पर चढ़ने जितना साहस जुटाया जाना आवश्यक है। इस साहसिकता का आरंभिक परिचय जीवन में ईश्वर की साझेदारी स्वीकार करने और लाभांश को दोनों भागीदारों में वितरित करने का निश्चय अपनाकर ही दिया जा सकता है।

● इतना तो कर ही सकते हैं ?

इस दिशा में कोई बड़ा साहस करते न बन पड़े तो भी इतना तो करना ही चाहिए कि ईश्वर को, परमार्थ को अपने परिवार का एक नया सदस्य मान लिया जाये। प्रत्येक सदस्य पर जो औसत खर्च आता है, उतना परमार्थ के लिए भी किया जाये। संतान के भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा, विवाह, स्वावलंबन एवं उत्तराधिकार में जो खर्च किया जाता हो उतना ही ईश्वर रूपी एक नई संतान के लिए भी खर्च करना आरंभ कर दिया जाये। समझा जाये कि ईश्वरीय अनुकंपा के रूप में, आत्म जागृति के रूप में एक संतान ने हमारे परिवार में जन्म लिया है और घर के अन्य सदस्यों की तरह घर की संचित संपत्ति तथा सामयिक आजीविका में अपनी भागीदारी का दावा प्रस्तुत किया है। न्याय की माँग है कि घर के किसी सदस्य को उसकी उचित भागीदारी के अधिकार से वंचित न किया जाये। परमात्मा को-आत्मा को जीवन व्यवसाय में हिस्सेदार मान लेने पर उस अर्थ साधनों का भी परमार्थ के लिए एक सुनिश्चित अंश प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

इस साझेदारी का स्मरण दिलाने और न्यायोचित विभाजन का तकाजा करने के लिए युग निर्माण योजना की सदस्यता की प्रारंभिक शर्त में अंशदान को अनिवार्य रूप से जोड़ा गया है। उसका न्यूनतम

अंश एक घंटा समय और बीस पैसा नित्य ज्ञानघट के लिए लगाते रहने की बात कही गई है। ज्ञानघट इसी प्रयोजन के लिए स्थापित कराये गये हैं। इस दिशा में ध्यान देकर हम ईश्वर की साझेदारी का सिद्धांत स्वीकार करते हैं। उस स्वीकृति के ऊपर मुहर लगाने, हस्ताक्षर करने के रूप में ही यह न्यूनतम अंश है। यह आरंभ है, अंत नहीं। यह बीजारोपण है, वृक्ष नहीं। जिस प्रकार प्रयत्न करने पर हर व्यक्ति चार घंटे रोज-समय का छठा भाग परमार्थ प्रयोजनों के लिए लगा सकता है, उसी प्रकार यदि परमार्थ को नई संतान के रूप में स्वीकार कर लिया जाये तो उसके लिए भी अर्थोपार्जन का अंश लगा सकना कुछ भी कठिन प्रतीत न होगा। प्रयत्न यह किया जाना चाहिए कि अंशदान की दृष्टि से पिछले दिनों से जो उदारता बरती जा रही है, उसकी अपेक्षा इस बसंत पर्व से उसका अनुपात बढ़ा ही दिया जाये, जबकि यहाँ यदाकदा तो कुछ होता रहता है, पर नियमितता नहीं बरती जाती, उन्हें किसी न किसी रूप में इस क्रम को नियमित बनाने और दिनचर्या में सम्मिलित करने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञानघट की स्थापना में और ज्ञानयज्ञ के लिए निर्धारित न्यूनतम अनुदान प्रस्तुत करते रहने में तो किसी को कृपणता बरतनी ही नहीं चाहिए।

ईश्वर से माँगने की बात उचित है, पर साथ ही दूसरा पक्ष यह भी सोचना चाहिए कि उसकी पात्रता सिद्ध करने को अपनी ओर से उदारता अपनाने की शर्त पूरी की गई या नहीं। समर्पण के अनुपात से अनुग्रह मिलने का तथ्य यदि हृदयंगम किया जा सके, तो हम यथार्थता के अधिक निकट होंगे। समर्थों की साझेदारी में लाभ ही लाभ है। विश्वमाता, वेदमाता-ईश्वरीय दिव्य सत्ता को यदि साहसपूर्वक अपने जीवन व्यवसाय में साझीदारी बनाया जा सके, तो इसे असाधारण लाभ कमाने और बुद्धिमान् सिद्ध होने के राजमार्ग पर चल पड़ना ही कहा जायेगा। इस बार का बसंत पर्व हममें से प्रत्येक को इसी स्तर की साहसिकता अपनाने की प्रेरणा लेकर आया है। उसे जो जितनी मात्रा में अपना सकेंगे वे उतने ही दूरदर्शी सिद्ध होंगे।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)